विष्णु पुराण में प्रतिविम्बित संस्कृति

एक अध्ययन

(बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय की पी. एच-डी. उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)
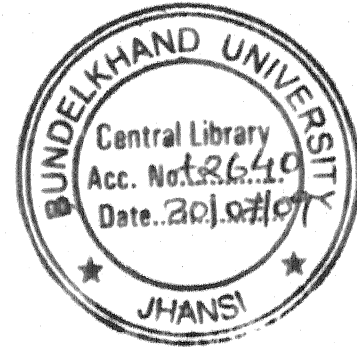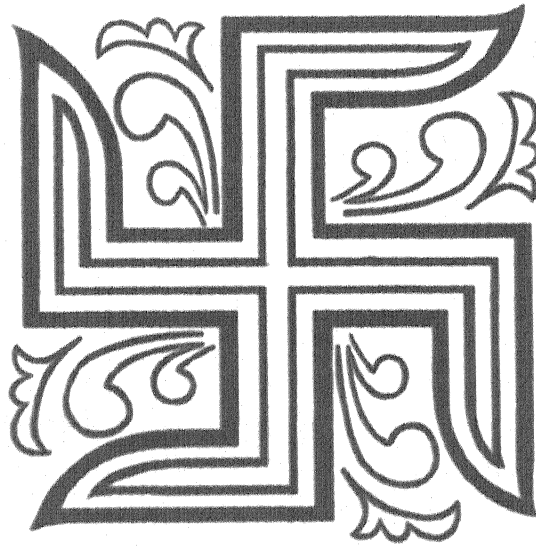
वर्ष- २००६

शोध पर्यवेक्षिका-

डॉ. नमिता अग्रवाल

संस्कृत-विभाग

अतर्रा पी. जी. कॉलेज, अतर्रा

शोधार्थिनी-

कु० विश्व विभा त्रिपाठी

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

प्रमाण-पत्र

कु. विश्वविभा त्रिपाठी ने विष्णु पुराण में प्रतिविम्बित संस्कृतिः एक अध्ययन विषय पर मेरे निर्देशन में निर्धारित समय तक रहकर शोध कार्य सम्पन्न किया है। इनका यह कार्य स्तरीय होने के साथ-साथ इनकी शोध-बुद्धि को भी प्रमाणित करता है।

मैं इनके जीवन में सतत् साफल्य की कामना करती हूँ।

Namita
23/4/006

वर्ष- २००६

डॉ. नमिता अग्रवाल
संस्कृत-विभाग
पी. जी. कॉलेज, अतर्रा

Dr. (Smt.) Namita Agrawal
Reader, Sanskrit Deptt.
ATARRA P. G. COLLEGE
Atarra (Banda) U.P.

घोषणा पत्र

मै घोषणा करती हूँ कि कि बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी के अन्तर्गत संस्कृत विषय में डॉक्टर ऑफ फिलासफी की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध **विष्णु पुराण में प्रतिविम्बित संस्कृति एक अध्ययन** सर्वथा नवीन एवं मौलिक कृति है

दिनांक

शोधार्थिनी -
कु0 विश्व विभा त्रिपाठी

-: आमुख :-

भारतीय परम्परा में पुराण साहित्य का अनूठा योग दान है। जहाँ यह साहित्य एक ओर अपनी विपुलता से आश्चर्यचकित करता है, वहीं इसमें सहस्राधिक कथानकों के द्वारा मानव जीवन के लिए जिस आदर्श पथ का संकेत किया गया है, वह भी अद्भुत और अप्रितम है।
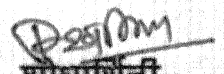
वैसे तो सभी पुराण अपने-अपने इष्ट को सर्वातिशायी और जगत् नियन्ता निरूपित करते हैं, तथापि विष्णु ऐसे देव हैं, जो न केवल देव रूप में अर्चनीय हैं, अपितु वे विविध अवतारों में आकर मानवीय रूप में भी आदर्श और अनुकरणीय हैं। विष्णु पुराणकार ने जहाँ इनके देवत्व की स्थापना की है, वहीं इस पुराणकार ने विविध आख्यानों के माध्यम से एक ऐसी संस्कृति की स्थापना भी करने का प्रयत्न किया है, जिसका अनुसरण कर मनुष्य मनुष्यता के आचार और व्यवहार वाला बन सकता है।

यही कारण है कि इस पुराण में नीति, आचार, धर्म और संस्कृति का ऐसा निखरा हुआ और परिमार्जित स्वरूप प्राप्त होता है जो किसी को भी अपनी ओर आकर्षित कर सकता है। मैं भी अपनी पैतृक परम्परा से पुराणों के प्रति आकर्षित रही और उनके अध्ययन तथा पर्यालोचन का अवसर इस शोध प्रबन्ध के कार्य के रूप में मिला।

जगज्जननी जगदम्बिका की पूर्ण अनुकम्पा एवं अपने परम पूज्य दादाजी श्री श्री १००८ श्री राघवाश्रम स्वामी जी तथा परम धाम प्राप्त मातुल स्व. श्री जगदम्बिका मिश्रा द्वारा प्रदत्त प्रेरणा एवं आशीर्वाद से मैं इस कार्य पथ पर अग्रसर हुई। मेरे अविरल प्रेरणा स्त्रोत मेरे पिताजी श्री विश्वनाथ त्रिपाठी एवं माता श्रीमती शान्ति त्रिपाठी हैं, जिनके अप्रतिम वात्सल्य तथा स्नेहिल प्रोत्साहन के फलस्वरूप ही यह कार्य पूर्ण हुआ। मेरा यह शोधग्रन्थ उनको सादर समर्पित है।

मुझे अतर्रा पी.जी. कॉलेज के संस्कृत-विभाग की रीडर डॉ. नमिता अग्रवाल के प्रति अपना आभार व्यक्त करना है, जिनके निर्देशन में यह शोधग्रन्थ पूर्ण हो सका। इसके अतिरिक्त श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मऊरानीपुर (झाँसी) के संस्कृत-विभागध्यक्ष डॉ. श्री गदाधर त्रिपाठी एवं अतर्रा पी.जी. कॉलेज के समाजशास्त्र विभाग के रीडर श्री अवधेश चन्द्र मिश्र मेरे आदर्श हैं, जिनके अमूल्य मार्गदर्शन एवं सक्रिय सहयोगवृत्ति से ही मैं यहाँ तक पहुँच सकी।

अन्त में मैं उन सभी विद्वानों और आचार्यों का भी आभार व्यक्त करती हूँ जिनके ग्रन्थों का सहयोग इसमें लिया गया है।

शोधार्थिनी-

विश्व विभा त्रिपाठी

टीचर्स कालोनी, इन्दिरा नगर

ग्रा. व पोस्ट- तिन्दवारी

जिला- बाँदा (उ.प्र.) 210128

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय
(विषय प्रवेश)

(क) नीति एवं आचार के अर्थ
(ख) नीति एवं आचार का व्यापक तथा सीमित स्वरूप
(ग) नीति एवं आचार का भेद (वैयक्तिक तथा सामाजिक)
(घ) धर्म एवं नीति (साम्य–वैषम्य)
(ड.) आचार तथ नीति (साम्य–वैषम्य)

द्वितीय अध्याय
(पुराण परम्परा एवं विष्णु पुराण)

(क) पुराण शब्द का अर्थ
(ख) पुराण संरचना की पृष्ठभूमि, समय एवं रचयिता
(ग) पुराण वर्गीकरण एवं वर्णित विषयों का संकेत
(घ) विष्णु पुराण का सामान्य परिचय
अध्याय
संस्करण
श्लोक संख्या
रचयिता एवं रचनाकार
(ड.) विष्णु पुराण में अभिव्यक्त विभिन्न नीतियों एवं आचार

तृतीय अध्याय
(विष्णु पुराण में लोकनीति एवं आचार)

(क) विष्ण पुराण की समाज व्यवस्था–

वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, कर्म सिद्धान्त, पुनर्जन्म, संस्कार।

(ख) पारिवारिक सम्बन्धों का नैतिक तथा आचारात्मक स्वरूप–

माता–पिता, पति–पत्नी, पुत्र–पुत्री, गुरु–शिष्य, अतिथि आदि।

(ग) विष्णु पुराण की वैयक्तिक नीति तथा आचार–

लोकाचार के सूत्र करुणा मैत्री आदि।

अवगुणः हठ, प्रतिशोध, ईर्ष्या आदि।

शरीर, मन, आत्मा की मान्यता का नैतिक दर्शन

चतुर्थ अध्याय
(विष्णु पुराण में राजनीति एवं अर्थनीति)

(क) विष्णु पुराण का शासक वर्ग

(ख) राजा और उसके गुण–दोष

(ग) शासन की ऋजुता तथा नीति

(घ) राजा–प्रजा का नैतिक एवं आचारात्मक सम्बन्ध

(ङ.) विष्णु पुराण में अर्थव्यवस्था

कृषि एवं पशुपालन, उद्योग–धन्धे।

(च) राजनीति एवं आर्थिक नीति का सामञ्जस्य

पंचम अध्याय

(विष्णु पुराण में धर्मनीति एवं आचार)

(क) सामान्य धर्म

(ख) विशेष धर्म

(ग) आश्रम धर्म

(घ) लौकिक धर्म

(ङ) पारलौकिक धर्म

(च) पति–पत्नी, पुत्र–पत्नी तथा गुरु–शिष्य धर्म

(छ) धर्म एवं आचार

(ज) धर्म एवं आचार के सम्बन्धित कारक–अहिंसा, क्षमा आदि

(झ) निष्कर्ष।

शोध निर्देशिका :
डॉ० नमिता अग्रवाल
Namita
23/4/006
Dr. (Smt.) Namita Agrawal
Reader, Sanskrit Deptt.
ATARRA P. G. COLLEGE
Atarra (B...)

शोधार्थिनी-
विश्व विभा त्रिपाठी

संकेतन-सूची

१.	अ. शा.	अभिज्ञान शाकुन्तलम्
२.	अथर्व (२)	अथर्ववेद (खण्ड-२)
३.	अ.वे.	अथर्ववेद
४.	अ. शा.	अभिज्ञान शाकुन्तलम्
५.	अ. रा.	अथर्ववेदे राजनीति
६.	आ. गृ. सू.	आश्वलायन गृह्यसूत्र
७.	आ. सू.	आश्वलायनधर्मसूत्र
८.	ईशो.	ईशावास्योपनिषद्
९.	उ. सं.	उपनिषद्कालीन समाज एवं संस्कृति
१०.	उ. स्मृ.	उशना स्मृति
११.	ऋक्	ऋग्वेद
१२.	ए. हि.सं.लि.	ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर लन्दन-१९२५
१३.	ए. मै. इ.	ए मैनुअल ऑफ इण्डिया
१४.	क.	कठोपनिषद् (प्रथम अध्याय)
१५.	का. क.	कादम्बरी कथामुखम्
१६.	कि.	किरातार्जुनीयम् (प्रथम सर्ग)
१७.	कू. पु.	कूर्म पुराणाङ्क
१८.	के. उ.	केनोपनिषद्
१९.	कौ. अ.	कौटिल्य अर्थशास्त्र
२०.	गो. ब्रा.	गोपथ ब्राह्मण

२१. छा. छान्दोग्योपनिषद्

२२. ज. रा. ए. सो. जनरल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी–१६४१

२३. जै. सू. जैमनीय सूत्र

२४. निरुक्त निरुक्त

२५. प. पु. पद्‌म पुराण

२६. पु. वि. पुराण विमर्श

२७. पु. स. पुराण समीक्षा

२८. पु. प. (१) पुराण पत्रिका

२६. ब्र. वै. ब्रहम वैवर्तपुराण

३०. ब्र. पु. ब्रह्माण्ड पुराण

३१. बृह. बृहदारण्यकोपनिषद्

३२. बौ. ध. सू. बौधायन धर्मसूत्र

३३. भ. गी. भगवद् गीता

३४. भा.म.पु. भागवत महापुराण

३५. भा. नी. भारतीय नीतिशास्त्र

३६. भा.नी.इ. भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास

३७. म.पु. मत्स्य पुराण (कल्याणांक)

३८. म. भा. महाभारत (हि.टी.)

३६. म.भा.आ. महाभारत में शान्ति पर्व का आलोचनात्मक अध्ययन

४०. म. स्मृ. मनु स्मृति

४१. मु. उ. मुण्डकोपनिषद्

४२. मै. ए. मैनुअल ऑफ इण्डिया एथिक्स

४३. यजु.	यजुर्वेद
४४. या. स्मृ.	याज्ञवल्क्य स्मृति
४५. व्या. स्मृ.	व्यासस्मृति
४६. वा. रा.	वाल्मीकि रामायण (बालकाण्ड)
४७. वि.पु. (१)	विष्णु पुराण (प्रथम खण्ड)
४८. वि. पु.	विष्णुधर्मोत्तर पुराण
४६. वि. पु. (२)	विष्णु पुराण (द्वितीय खण्ड)
५०. वे. भा. सं.	वेदों में भारतीय संस्कृति
५१. शु. नी.	शुक्रनीति
५२. श. ब्रा.	शतपथ ब्राह्मण
५३. श्वे. उ.	श्वेताश्वतरोपनिषद्
५४. सं. श. कौ.	संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ
५५. हरि. पु. सां. अ.	हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन
५६. हि. स.	हिन्दी सभ्यता
५७. हि.	हितोपदेश (मित्रलाभ)
५८. हि. इ. लि.	हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटलेचर
५६. हि. वि.	हिन्दी विश्वकोष (प्रथम खण्ड)

प्रथम अध्याय

(विषय प्रवेश)

प्रथम अध्याय

(विषय प्रवेश)

पुराण परम्परा इस देश की एक प्राचीन परम्परा है। हमारे देश में नीति, आचार, धर्म और संस्कृति जानने के लिए जिन प्राचीन ग्रन्थों का आधार लिया जाता है उनमें से पुराण एक प्रकार से इसके लिए महत्वपूर्ण आधार है। यद्यपि पुराणों में अनेक प्रकार के आख्यानों के वर्णन के साथ-साथ अनेक राजाओं के चरित्रों का कथन किया गया है और भगवान के अनेक अवतारों का यश गान किया गया है भक्ति और ज्ञान का जैसा विशद वर्णन पुराणों में किया गया है वह भी अपने आप में अनूठा है। किन्तु इसके साथ ही चाहे वे भगवान के अवतार हों अथवा राजाओं के वंशों के वर्णन के सन्दर्भ हों, उन वर्णनों के माध्यम से एक ऐसी संस्कृति का प्राकट्य हुआ है, जिसने इस समाज को पूरी तरह से आच्छादित कर लिया है।

सामान्यतः मनुष्य और उसके द्वारा सुगठित समाज का जब अध्ययन किया जाता है तो सभ्यता और संस्कृति के रूप में हमारे सामने दो ऐसे कारक आते हैं जिनसे मनुष्य के व्यक्तित्व का, उसके आचार-व्यवहार का, उसके रहन-सहन और खान-पान का, उसका व्यापार तथा व्यवहार का अध्ययन होने के साथ-साथ उसकी आत्मिक विकास का अध्ययन होता है। इसमें से जो उसका रहन-सहन, खान-पान और बाह्य व्यवहार होता है वह उसकी सभ्यता कही जाती है।

इसके विपरीत उसका जो आत्मिक विकास और अन्तस् के गुण होते हैं, वे संस्कृति के नाम से जाने जाते हैं। अर्थात् जिन गुणों से मनुष्य की मनुष्यता की पहचान होती है, वे गुण संस्कृति के रूप में कहे जाते हैं। अर्थात् दया, क्षमा, सत्य बोलने का साहस, अस्तेय अर्थात् चोरी न करने का स्वभाव, शौच अर्थात् वाह्य और अन्तस् की पवित्रता, अलोभ आदि ऐसे गुण हैं जो संस्कृति वाचक हैं।

मनुष्य के लिए सभ्य और संस्कृति युक्त होना, इसलिए आवश्यक कहा गया है, क्योंकि इसी से वह परिपूर्ण होता है। इसके लिए विचारकों ने यह कहा है कि जिस प्रकार व्यक्ति वाह्य आभूषण धारण करने के बाद भी अन्तस् के गुणों अर्थात् नीति और आचार से हीन होने पर पूर्ण नहीं होता, उसी तरह से सामान्य रूप में सभ्यता और संस्कृति एक दूसरे के पूरक हो सकते हैं। किन्तु यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य है कि जैसे कोई वाह्य आभूषण न धारण करने पर भी मानवीय गुणों से युक्त होने पर अच्छा मनुष्य हो सकता है, उसी तरह से सभ्यताहीन समाज भी संस्कृति सम्पन्न होकर श्रेष्ठ समाज बन सकता है।

पुराणों में अपने इष्ठ की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए भी समाज को दृष्टि में रखकर सभ्यता और संस्कृति का स्वरूप निरूपित है। भगवान के विविध रूपों का वर्णन करते हुए पुराणों में मनुष्य के सद्गुणों का आख्यान विस्तार से किया गया है।

विष्णु पुराण अठारह पुराणों के बीच में एक महत्वपूर्ण पुराण है और मुख्य रूप से इसमें भगवान विष्णु के वैशिष्ट्य का कथन किया गया है, किन्तु इसी के साथ इसमें ऐसे आख्यान भी दिए गये हैं जो मनुष्य के लिए नीति का और आचार का उपदेश करते हैं। भगवान विष्णु भी ऐसा चरित्र करते हैं जो मानवीय सन्दर्भ में उपादेय है और जिसे पढ़कर तथा सुनकर मनुष्य श्रेष्ठ मनुष्य के रूप में स्वयं को स्थापित कर सकता है। इसके अतिरिक्त जिन राजाओं का चरित्र-चित्रण प्राप्त है, वे दुष्ट राजा भी हैं और सज्जन राजा भी हैं। पुराणकार जहाँ दुष्ट राजाओं के चरित्र का वर्णन करते हुआ उनके प्रति समाज में उपेक्षा का भाव संकेतित करना चाहता है, वहीं पुराणकार सज्जन राजाओं का आख्यान कहता हुआ उनके सद्गुणों को इस प्रकार से प्रस्तुत करता है जिससे समाज के लोग उन गुणों का अनुसरण कर सकें।

राजाओं की नीतियाँ कैसी हों और वे व्यक्तिगत रूप से तथा समाजगत रूप से कैसे उनका प्रयोग करें, इसके साथ ही साथ उनके आचारों का कथन भी इसी प्रकार से इस पुराण में किया गया है। इसलिए विष्णु पुराण का अध्ययन मनुष्य के लिए उसकी नीतियों और आचारों का कथन स्पष्ट करेगा। इससे अध्येता और सामान्य जन भी यथोचित रूप में सम्यक् दृष्टि प्राप्त कर सकेंगे और एक श्रेष्ठ समाज के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकेंगे।

(क) नीति एवं आचार :-

ऐतिहासिक दृष्टि से हमारे पास जो भी लिखित साहित्य प्राप्त है उसमें सर्वाधिक प्राचीन साहित्य वैदिक वाङ्मय है। सुनकर संकलित किये जाने के कारण इसे श्रुति भी कहते हैं और श्रुति में तब के समय में ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद को संकलित किया गया था। सम्भवतः अति प्राचीन समय में यही तीन वेद थे। जिससे पहले वेदत्रयी की परम्परा प्रचलित थी। बाद में अथर्ववेद को सम्मिलित करने के कारण चार वेद ग्रथित हुए और ये न केवल हमारे साहित्य के आदि परिचायक बने अपितु हमारी परम्परा के विचारों के यही आदि संवाहक भी कहे गये। इसलिए वैचारिक स्तर पर और व्यवहारिक स्तर पर जब भी किसी विषय का आदि स्त्रोत जानना होता है तो वैदिक साहित्य की ओर देखना अपरिहार्य हो जाता है।

हम कौन हैं, कहाँ से आये हैं, हमें कहाँ जाना हैं, हमारे जीवन का उद्देश्य क्या हैं? इस जगत की नियति क्या है? क्या यह नित्य है अथवा अनित्य? इसका निर्माता क्या कोई है, क्या यह स्वयं सृजित है? आदि अनेक जिज्ञासाओं के साथ-साथ मनुष्य से सम्बन्धित अनेक बातें भी वेदों में प्राप्त हैं। यद्यपि इस सम्बन्ध में वेद साहित्य संकेतात्मक रूप से संदर्भित विषय पर विचार करता है तथापि वह संकेत ही बाद के विचार के लिए आधार बनता है।

सृष्टि के सृजन का प्रारम्भ किस रूप में हुआ और वह बाद में किस तरह स्थापित हुआ, इसके लिए ऋग्वेद में यह संकेत किया गया है कि सर्वप्रथम इस सृष्टि में ऋत् और सत्य प्रकट हुए। बाद में रात्रियाँ और समुद्र आदि ने आकार ग्रहण किया। इस रूप में वैचारिक स्तर पर ऋत् और सत्य सम्भवतः बाद में नीति और आचार के लिए आधार बने।

संस्कृत साहित्य का एक शब्दकोष ऋत् के जो पर्याय देता है उसमें वह उचित, सच्चा, सम्मानित की गणना करता है।[1] वहीं पर जब वह शब्दकोश सत् का अर्थ सत्य के परिभाषिक शब्द के रूप में देता है तो वह इसके पयार्यों में यथार्थ, ईमानदार और वास्तविक शब्दों का प्रयोग करता है।[2] आधुनिक नीतिकारों ने ऋत् शब्द वर्तमान सन्दर्भ में व्याख्यायित किया है और यह लिखा है कि ऋत् शब्द का अर्थ शुभ, सत्य और हित हो सकता है।[3]

सामाजिक सन्दर्भों में प्राचीन भारतीय परम्परा का विश्लेषण करने वाले प्रख्यात विद्वान डॉ. राधा कुमुद मुखर्जी यह लिखते हैं कि वेदों मे जिस वरूण देवता का संकेत किया गया है, वह 'ऋत्' का अधिपति होता है। वह यह स्पष्ट करते हैं कि बाद में इसी 'ऋत्' को नैतिक नियमों के लिए जाना जाने लगा।[4]

१. सं. शं. कौ. पृ. २६९
२. वही, पृ. ११६
३. भा. नी. वि., पृ. ३२
४. हि. स., पृ. १०४

वरूण की ऋग्वेद में अनेक स्थलों में विशेष देवता के रूप में प्रार्थना की गई है। उनके सन्दर्भ में यह कहा गया है कि उनके धर्म और व्रत नैतिक जीवन के नियमों से आच्छादित हैं। अर्थात् इसका अभिप्राय यह हुआ कि वरूण का सम्बन्ध 'ऋत' के साथ अधिक रूप से जोड़ा गया। यद्यपि इन्द्र और अग्नि आदि ऐसे देवता भी हैं जिन्हें ऋत से सम्बन्धित बताया गया है और यह निरूपित किया गया है कि अग्नि और इन्द्र आदि ऋत से सम्बन्धित हैं।[1]

वरूण के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि ऋत का सम्बन्ध केवल वरूण से नहीं है अपितु यह देवता ऐसा है जो ऋत का उद्गम है। अर्थात् वरूण से ही ऋत प्रकट होता है।[2]

एक दूसरा सन्दर्भ सोम के विषय में है जब कि इस देवता की प्रार्थना करते हुये ऋग्वैदिक ऋषि ने यह संकेत किया है कि सोम ऐसे देवता हैं जो सत्य की रक्षा करते हैं और जो सत्य का पालन नहीं करते उनका संहार करते हैं।[3] इस रूप में एक विचार यह भी दिया जा सकता है कि वरूण यदि ऋत के धारक देवता थे तो सोम ऋत के साथ साथ सत्य को भी धारण करते थे। जो भी हो ऋत और सत्य का प्रयोग ऋगवेद में है और ऋत का अर्थ यदि सच्चा हो सकता है तो सत्य अपने समय में प्रतिष्ठित होता ही है।

....

१. ऋक्. १०।८।५

२. वही १।१०।५०, २।२८।५, २।२८।८

३. वही २।१३।७

उपनिषद् परम्परा एक प्रकार से वैदिक परम्परा का अनुशीलन ही करती है इसलिए वेदों में जो कहा गया है या वहाँ पर जो संकेत किया गया है, उपनिषद् परम्परा भी उसी का अनुसरण करती है। इस रूप में हम यह देखते हैं कि वहाँ पर सत्य को नैतिक जीवन का आधार मानकर इसकी उपासना का निर्देश किया गया है। सत्य ब्रह्म है, यही नित्य और शाश्वत है इसलिए उसे अपने स्वाध्याय और कथन में सम्मिलित किया जाना चाहिए।[1] इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति के जीवन का आधार सत्य है और सत्य को आधार बनाकर जीवन जीने का लक्ष्य विकसित किया जाना चाहिए, क्योंकि यही नीति है।

एक अन्य उपनिषद् यह कहती है कि जिसके जीवन में सत्य प्रतिष्ठित होता है और जो सत्य को आधार बनाकर जीवन चलाता है अर्थात् सत्य धारण करता है वह सर्वदा विजयी होता है। उसे कभी पराजित नहीं होना पड़ता है। उपनिषद् कहती है कि सत्य का जीवन जीने वाले का देवमार्ग प्रशस्त होता है अर्थात् सत्य रूपी नीति के आश्रय से जहाँ एक ओर व्यक्ति अपने जीवन में विजय प्राप्ति का अधिकारी होता है वहीं पर सत्य के आश्रय से वह उस मार्ग पर चलने का सामर्थ्य पाता है, जिस मार्ग पर चलकर व्यक्ति को देवताओं का आश्रय मिल सकता है अर्थात् वह देवमार्ग पर चलने के लिए प्रेरित होता है।[2]

१. सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च। तै. उ., ९
२. सत्य ब्रह्मेति जयतीमालोकान्॥ बृ. उ., ५/४

आद्याचार्य भगवान् शंकर एक उपनिषद् में जब अपना भाष्य प्रस्तुत करते हैं तो वे यह अपना अभिमत व्यक्त करते हैं कि उपनिषदों में नीति का प्रयोग शास्त्रवत् किया गया।[1] इसका संकेत हम इस रूप में ग्रहण कर सकते हैं जैसे शास्त्र व्यक्ति को अनुशासित करता है और उसे जीवन जीने का निर्देश करता है सम्भवतः उसी प्रकार से नीति भी जीवन जीने की दिशा देती है। एक विद्वान् यह लिखते हैं कि तब उपनिषदों में राज और नीति का ऐसा परस्पर सापेक्ष सम्बन्ध था कि नीति को राज से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता था।[2] इस सम्बन्ध में वे 'एकायन' शब्द से नीति का ही अभिप्राय ग्रहण करते हैं।

नीति के विषय में और भी अन्य अनेक उदाहरण प्राचीन वाङ्मय में प्राप्त होते हैं जिनमें यह कहा गया है कि नीति लोक-व्यवहार को व्यक्त करती है। व्यक्ति के जीवन का जो भी लौकिक व्यवहार है उसका निर्धारण करने में नीति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। महाभारत में इसके लिए 'शील' शब्द का प्रयोग किया गया है जो नीति और आचार दोनों का अर्थ देते हैं। शील व्यक्ति का एक ऐसा स्वभाव है जिससे उसका विचार और व्यवहार दोनों नियन्त्रित होता है।[3]

१. छान्दो, पृ. ७१४ पर शंकरभाष्य।
२. उ. स. सं. पृ. २४४।
३. म. भा. अ., पृ. २४।

वर्तमान सन्दर्भ में भी नीति शब्द को लेकर अनेकानेक विचारकों ने अपने मत दिये हैं। इन मतों में यह मन्तव्य प्रकट किया गया है कि नीति शब्द का अभिप्राय उन नियमों से सम्भव हो सकता है जिन नियमों पर चलकर मनुष्य लौकिक और पारलौकिक कल्याण का अधिकारी बनता है। अर्थात् नीति पर चलने से ही कोई व्यक्ति इस जन्म में कल्याण प्राप्त कर सकता है और उसके दूसरे जन्म के कल्याण प्राप्त होने के अवसर की सम्भावना हो सकती है।[१] इस विषय में एक विद्वान् जिन शब्दों में अपना मत व्यक्त करते हैं उनमें वे यह कहते हैं कि नीति के अनुपालन से समाज में स्थिरता रहती है, संतुलन रहता है और जो भी सामाजिक प्राणी हैं उनके जीवन का अभ्युदय होता है। यहाँ तक कि नीति के परिपालन से विश्व शान्ति की सम्भावनायें भी बढ़ जाती हैं।[२]

इस रूप में जहाँ नीति का सम्बन्ध मनुष्य के वैयक्तिक उत्कर्ष से जुड़ा हुआ दिखाई देता है वहीं यह भी परिलक्षित होता है कि नीति व्यक्ति के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करती हुई भी सामाजिक कल्याण का आधार बनती है। इस रूप में नीति के माध्यम से व्यक्ति तथा समाज समान रूप से उत्कर्ष प्राप्त कर पाते हैं।

....

१. भा. नी. इ., पृ. ६।२

२. भा. नी., पृ. १-२ से उद्धृत।

नीति जहाँ एक ओर व्यक्ति के मानसिक विचारों पर आधारित है वहीं पर आचार व्यक्ति के व्यवहार को प्रकट करने का माध्यम है, इसलिए चर् धातु के पूर्व आङ्. उपसर्ग लगाकर बनने वाले आचार शब्द का एक सामान्य अर्थ भली प्रकार से चलना भी हो सकता है अथवा व्यक्ति के द्वारा किया गया आचरण कहा जा सकता है। जब प्राचीन विचारकों ने इस विषय में विचार किया है तो उन्होंने अनेक प्रकार से अपने मत व्यक्त किए हैं। इसमें वे तरह-तरह के रीति रिवाजों को, सदाचार को और धर्ममूलक व्यवहार को सम्मिलित करते हैं। महर्षि मनु ने अपना मत देते हुए यह लिखा है कि वेदों और स्मृतियों में जो धर्ममूलक कर्म कहे गये हैं उन्हें आचार कहा जाता है। इसलिए जिन व्यक्तियों को अपना कल्याण प्राप्त करना हो वे आचार का पालन निरालस्य होकर करें।[१] महर्षि वेदव्यास ने यज्ञ, दान, तप, सत्य और वेद को पवित्र शिष्टाचार के रूप में मान्यता दी है।[२] इसका अभिप्राय यह हुआ कि आचार वह है जो व्यक्ति का क्रियात्मक व्यवहार है और जो व्यवहार वेदादि की परम्परा से श्रेष्ठ माना जाता है। जैसे कि यज्ञ करना, दान देना, तप करना तथा सत्य का आश्रय लेकर व्यवहार करना व्यक्ति के जीवन के ऐसे आचार हैं जो क्रियात्मक हैं और व्यवहारिक हैं। इनका करना जहाँ व्यक्ति के विचारों को स्वच्छता और सुन्दरता देते हैं वहीं इन आचार-व्यवहारों से व्यक्ति लौकिक जीवन में श्रेष्ठता प्राप्तकर सन्मार्ग पर चल पाता है।

....

१. म. स्मृ. १।२७

२. म. भा. वन पर्व १५८।५७

आचार शब्द को लेकर और भी कुछ विचार देखे जा सकते हैं। पाश्चात्य विचारकों में से एक विचारक ने अपना यह मन्तव्य दिया है कि आचार शब्द एक व्यापक अर्थ को व्यक्त करता है। इसमें मनुष्य की आदतें, समाज के रीति-रिवाज और उसके चरित्र को सम्मिलित किया जा सकता है। इस रूप में आचार शब्द का व्यापक अर्थ देकर उसकी व्यापकता को व्यक्ति के सन्दर्भ में परखा जा सकता है।[1] इसी तरह से एक कथन इस प्रकार का है जिसमें आचार को उचित और अनुचित के साथ जोड़ा गया है। इस दृष्टिकोण में यह मन्तव्य व्यक्त किया गया है कि व्यक्ति के जीवन में उचित आचरण भी होता है और अनुचित आचरण भी होता है। वह कभी किन्हीं विशेष स्थितियों में ऐसा कार्य करता है जो व्यक्ति और समाज की दृष्टि से उचित होता है। इसके विपरीत वह कभी-कभी कुछ ऐसे कार्य भी कर बैठता है जिन कार्यों को व्यक्ति के सम्बन्ध में उचित नहीं कहा जा सकता और समाज के सम्बन्ध में भी वे कार्य अनुचित होते हैं। इन स्थितियों में व्यक्ति की जो उचित और अनुचित की दृष्टि होती है वह आचारमूलक होती है।[2] आचार की महत्ता इसलिए भी अनुभूत की जा सकती है क्योंकि इसके माध्यम से व्यक्ति उचित और अनुचित का भेद सहज में ही कर सकता है, साथ ही वह यह भी निर्धारित कर सकता है कि उसके लिए अनुचित का परिहार्य और उचित का अनुसरण श्रेष्ठ मार्ग है।

१. नै. ए., पृ. १
२. ए. नै. ए. पृ. २

(ख) नीति और आचार का व्यापक तथा सीमित स्वरूप :-

इस सम्बन्ध में यहाँ पर यह विचार किया जा सकता है कि जब नीति का वैयक्तिक अर्थ किया जायेगा तो उसका अर्थ सीमित निकलेगा और वह एक सीमित अर्थ ही हो सकेगा। इसी तरह से जब आचार का अर्थ भी किसी एक व्यक्ति के सम्बन्ध में किया जायेगा तो उसका अर्थ भी सीमित ही निकलेगा। किन्तु जब नीति का अर्थ और आचार का अर्थ समाज के सन्दर्भ में होगा तो वह व्यापक अर्थ होता है। इस प्रकार से हम यह कह सकते हैं कि चाहे नीति का अर्थ हो अथवा चाहे आचार का अर्थ हो, वैयक्तिक रूप से जब इनका अर्थ होगा तो वह सीमित होगा किन्तु जब सामाजिक रूप से होगा तो वह व्यापक होगा।

यहाँ पर उदाहरण के रूप में सत्य को ग्रहण किया जा सकता है और सन्दर्भ के रूप में एक उपनिषद् की कथा उद्धृत की जा सकती है। सत्य काम जाबालि अध्ययन के लिए गुरुकुल जाते हैं। वहाँ पर उनसे उनके पिता का नाम पूछा जाता है। वे अपनी माता का नाम तो जानते हैं किन्तु उनके पिता कौन हैं इसका ज्ञान उन्हें नहीं है। वे पिता का नाम जानने के लिए आश्रम से लौटकर अपनी माता के पास आते हैं। उनकी माता जाबालि से कहती है कि मैं अनेक स्थानों में दासी कर्म में प्रवृत्त थी इसलिए मैं स्वयं यह नहीं जानती कि तुम्हारे पिता कौन हैं। तुम अपना परिचय अपनी माता के नाम से ही दो।

सत्यकाम अपनी माता की यह बात सुनकर आचार्य के पास जाते हैं और जो सत्य उन्होंने अपनी माता से जाना था उसे वे उसी रूप में ऋषि आश्रम में बता देते हैं। ऋषि सत्यकाम के इस सत्य वचन को सुनकर प्रसन्न होते हैं और उसे श्रेष्ठ विद्यार्थी के रूप में स्वीकार करते हैं।

सत्यकाम के द्वारा प्रयोग में लाया गया वह सत्य जब तक व्यक्ति स्तर पर था तब तक वह सीमित अर्थ वाला था किन्तु जब उसने उसी सत्य का प्रयोग आश्रम में किया तो वह सामाजिक सन्दर्भ में व्यापक अर्थ देने वाला हो गया। इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि नीति अथवा आचार का प्रयोग व्यक्ति स्तर पर सीमित अर्थ वावा होते हुए भी सन्दर्भ विशेष में व्यापक अर्थ देने वाले हो जाते हैं।

ऋत् और सत्य के सम्बन्ध में अपना मत देते हुये एक नीतिकार यह लिखते हैं कि नीति जब समष्टि में व्याप्त रहती है तब वह ऋत् की संज्ञा से ज्ञात होती है किन्तु जब वह तप के साथ व्यक्त होकर सत्य के रूप में प्रकट होती है तब वह सामाजिक सन्दर्भ में एक व्यापक अर्थ को ग्रहण कर लेती है। इस तरह से प्रयोग के सन्दर्भ विशेष में नीति यदि सीमित अर्थ देने वाली हो जाती है तो किसी विशेष सन्दर्भ में वही व्यापक अर्थ भी देती है और इस तरह वह सीमित और व्यापक दोनों अर्थ को देकर अपनी सार्थकता सिद्ध करती है।[१]

....

१. भा. नी. वि., पृ. ३९

एक स्थान पर मनुस्मृतिकार मनु ने धर्म की व्याख्या करते हुए यह लिखा है कि वेद स्मृतियों को जानने वालों की स्मृति, श्रेष्ठ जनों का आचार और आत्मा की संतुष्टि यही धर्म के मूल हैं।[1] इस सन्दर्भ में यहाँ पर जो वेदों का उल्लेख किया जाता है और स्मृतियों की व्याख्या की जाती है उसमें सत्य की प्रतिष्ठा का भाव अन्तर्निहित है। श्रेष्ठ जनों का जो व्यवहार है अथवा उनका जो आचार हैं। वह परम आदर्श है जो मनुष्य के जीवन के लिए एक आदर्श आचार उपस्थित करता है। इसी तरह से आत्मा की संतुष्टि भी श्रेष्ठजनों के व्यवहार के लिए परम आदर्श रूप ही है। नीति और आचार का यह एक ऐसा स्वरूप है जो समष्टि के अर्थ को व्यापकता के साथ प्रस्तुत करता है।

एक दूसरे स्थान पर इस प्रकार का उदाहरण दिया गया है, जिसमें यह कहा गया है कि आर्यजन जिसकी प्रशंसा करते हैं वह परम धर्म है और जिसकी वे निन्दा करते है, वह अधर्म है।[2] इस रूप में इस कथन का अभिप्राय यह हो सकता है कि जिस आचार को श्रेष्ठजन निन्दित नहीं समझते उसका पालन करना चाहिए और वे दुर्गुण अपने जीवन में कभी नहीं अपनाने चाहिए, जिनसे मनुष्य के पतन का मार्ग प्रशस्त होता है। इन दुर्गुणों में ईर्ष्या, निन्दा, अभिमान, कुटिलता, लोभ, मोह, क्रोध और द्रोह सम्मिलित हैं। ये सभी ऐसे भाव हैं जो व्यक्ति के जीवन व्यवहार में आकर दुराचरण के प्रतीक बन जाते हैं।

....

१. म. स्मृ. २/६
२. आ. भू. १/२०/६

उपरिलिखित संकेत से हम यह अभिप्राय समझ सकते हैं कि व्यक्ति जब किन्हीं गुणों का पालन व्यक्ति स्तर पर करता है तो वे सीमित अर्थ देते हैं किन्तु जब उन्हें सामाजिक सन्दर्भ में देखा जाता है तो वे व्यापक अर्थ वाले हो जाते हैं।

उपनिषदें व्यक्ति के जीवन में प्रेय और श्रेय दो लाभों का कथन करती हैं। इस सन्दर्भ में वे कहती हैं कि जो विवेकी पुरुष हैं वे अपने जीवन में प्रेय की अपेक्षा श्रेय को अपने जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं। इसलिए वहाँ पर यह कहा गया हैं कि व्यक्ति अपने कल्याण की कामना करता हुआ श्रेयस् की प्राप्ति करे और आत्मज्ञान की ओर अभिमुख होवे। आत्मज्ञान का भाव यह है कि उसके मन में सदा यह विचार रहे कि इस सृष्टि में जो कुछ भी परम तत्त्व रूप है वह ईश्वर है और ईश्वर के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस रूप में वहाँ पर ईश्वर की सत्ता को और उसके स्वरूप को और अधिक स्पष्ट किया गया है तथा यह कहा गया है कि इस जगत् में जो कुछ भी है वह सत् है वह सत् स्वरूप है, सत् के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। ब्रह्म से उद्भूत इस जगत् का प्रत्येक कण सद्रूप ही है।[1] इस रूप में यह कहना तर्कसंगत हो सकता है कि सत् नीति है, सत् आचार है जो व्यक्ति के माध्यम से वैयक्तिक रूप में और समष्टि के माध्यम से सार्वजनिक रूप में व्यक्त होता है। जब वह व्यक्ति के रूप में प्रकट होता है तब उसका स्वरूप सीमित होता है और जब वह स्वयं को सामाजिक रूप में प्रकट करता है तब वह विशाल फलक में दिखाई देता है।

१. बृ. उ. ५/५/१

(ग) नीति एवं आचार का भेद (वैयक्तिक तथा सामाजिक):-

प्रारम्भिक समय से ही वैदिक ऋषियों के मन में यह इच्छा रही है कि वे स्वयं का अपना जीवन सुख पूर्वक जियें और साथ ही साथ ऐसा प्रयत्न करें जिससे समाज का प्रत्येक व्यक्ति सुख की प्राप्ति करता हुआ आनन्द का अनुभव कर सके। इस दृष्टि से वैदिक वाङ्मय में यह कल्पना की गई है कि हम सौ वर्ष का जीवन जियें, उस जीवन में आनन्द का अनुभव करें तथा जिस वस्तु की प्राप्ति की आकांक्षा होवे वह वस्तु प्राप्त कर सकें।[1] क्योंकि इस संसार में स्वयं की शक्ति से कुछ भी प्राप्त कर पाना सम्भव नहीं होता इसलिए उन ऋषियों ने प्रकृति की शक्तियों में देवत्व की कल्पना की और उन शक्तियों से यह चाहा कि वे हम मनुष्यों को शक्ति सम्पन्न बनावें। इन शक्तियों में सूर्य, वायु, पृथ्वी, आकाश आदि को देखा गया और उनसे प्रार्थना करते हुये यह कामना की गई कि वे मनुष्य को कल्याण का भाजन बनायें और उसे ओजस्वी करें।[2]

इस दृष्टि में यह अभिप्राय छिपा हुआ था कि तब ऋषि जहाँ एक ओर व्यक्ति के रूप में स्वयं के कल्याण की कामना करता था वहीं दूसरी ओर वह यह भी चाहता था कि जिस प्रकार वह सुखी और सम्पन्न है उसी तरह से समाज का हर व्यक्ति सुख और सम्पन्नता की प्राप्ति करे। यह उसकी ऐसी दृष्टि थी जो उसे व्यक्ति के स्तर पर और समाज के स्तर पर विशेष मनुष्य के रूप में स्थापित करती थी।

....

१. यजु. १०/२, २०/२१

१. ऋक् १०/१८६/१

वेदोत्तर काल में किसी न किसी रूप में इसी भाव को स्वर दिया गया और वहाँ पर भी मनुष्य जीवन के कल्याण के लिए दो प्रकार के मार्गों का कथन किया गया। एक प्रकार के मार्ग को प्रेय मार्ग कहा गया और दूसरे प्रकार के मार्ग को श्रेय मार्ग कहा गया। इन दोनों प्रकार के मार्गों में प्रेय मार्ग यद्यपि लोक मार्ग है और यह व्यक्ति के वैयक्तिक सुख पर आधारित है किन्तु तब ऋषियों ने यह नहीं चाहा था कि कोई भी प्रेय मार्ग का आश्रय लेकर व्यक्तिगत सुख प्राप्ति तक सीमित रहे। तब औपनिषदिक ऋषियों की यह आकांक्षा थी कि जहाँ व्यक्ति एक ओर प्रेय प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहे और सुख का अनुभव करे वहीं वह श्रेय मार्ग पर चलकर सभी के जीवन की कल्याण की कामना करें।

इस भाव को प्रदर्शित करते हुये प्रेय और श्रेय की प्राप्ति के हेतु नीति तथा आचार का सन्दर्भ वहाँ पर दिया गया है और यह चाहा गया है कि व्यक्ति नीति के रूप में सत्य का पालन करे और आचार मूलक कर्म करता हुआ प्रेय ओर श्रेय से समन्वित हो। यही कारण है कि सत्य को वहाँ पर देवमार्ग के रूप स्वीकार किया गया है और यह कहा गया है कि सत्य का प्रयोग व्यक्ति को उस पद की प्राप्ति कराता है जो मनुष्य के जीवन का परम मार्ग है।[1]

....

१. क. उ., पृ. ३, के. उप. खण्ड २

छान्दोग्योपनिषद् में धर्म की व्याख्या की गई है। वहाँ पर यह कहा गया है कि यज्ञ, अध्ययन और दान धर्म के ये तीन स्कन्ध हैं जो व्यक्ति के लिए आचार रूप में कहे जा सकते हैं। कोई भी व्यक्ति जो यज्ञ करता है वह यज्ञ को अपने जीवन में आचार के रूप में ग्रहण करता है। इसी तरह से जो अध्ययन में प्रवृत्त है वह अध्ययन करता हुआ उसे अपने जीवन में आचार के रूप में ग्रहण कर सकता है। यही स्थिति दान की भी है। दान व्यक्ति के जीवन का एक ऐसा कर्म है जो परम आचार है। धर्म के ये तीनों स्कन्ध व्यक्ति के जीवन में आचरण के रूप में ग्रहण किये जा सकते हैं। साथ ही साथ व्यक्तिगत रूप से जब इनका प्रयोग किया जाता है तब वे व्यक्ति के लिए एकांकी होकर उसके प्रेय और श्रेय के आधार बनते हैं किन्तु जब धर्म के यही तीनों स्कन्ध सामाजिक सन्दर्भ में प्रयुक्त होते हैं तब वे अपने विस्तृत भाव को व्यक्त करते हैं।[१]

विचारकों की दृष्टि में यह निरूपित किया गया है कि आचार के मार्ग पर चलकर व्यक्ति अपने जीवन का भौतिक कल्याण पाने के साथ-साथ वह जीवन के लक्ष्य के रूप में परम पुरुषार्थ रूप मोक्ष की प्राप्ति भी कर लेता है और उस स्थिति में ये आचार अपने सामाजिक रूप में अपनी सार्थकता सिद्ध करते हैं।[२]

....

१. छान्दो. २/२३/१

१. म. शा. अ., पृ. २

प्राचीन भारत में व्यक्ति को तो महत्व दिया ही गया था सामाजिक स्वरूप के निर्धारण में भी पर्याप्त रूप से विचार किया गया था। इसलिए वहाँ पर वर्ण-व्यवस्था और आश्रम का निर्धारण हुआ। वर्ण-व्यवस्था में जहाँ एक ओर चार वर्णों के रूप में समाज को संगठित किया गया था वहीं उन चारों वर्णों के लिए कर्तव्यों का विधान भी था। पृथक्-पृथक् वर्णों के लिए जिन कर्तव्यों का विधान था उनसे यह अपेक्षा थी कि वे अपने लिए निर्धारित कर्तव्यों का पालन करें और व्यक्तिगत रूप से कर्तव्य रूपी नीति तथा आचार को सुदृढ़ता से अपनावें। इसी प्रकार से जैसे तब वर्ण-व्यवस्था व्यक्ति और समाज को दृष्टि में रखकर स्थापित की गई थी वैसे ही तब आश्रम-व्यवस्था भी दृष्टिकोण रखती थी कि व्यक्ति अपने-अपने आश्रमों में रहता हुआ उन कर्तव्यों का पालन करें जो उसके व्यक्तिगत जीवन के लिए हितकारी हो और व्यक्ति को एक नई दिशा दे सकें।

इन दोनों व्यवस्थाओं में व्यक्ति भी केन्द्र में था और समाज भी केन्द्र में था क्योंकि तब सभी वर्णों के लोग अपने-अपने वर्णों में रहकर अपना कर्तव्य करते हुये समाज के प्रति उत्तरदायी होते थे और तत्वदर्शी को महत्व देते थे। वे अपना आचार निर्धारित करने के लिए और अपनी सांस्कृतिक दृष्टि को परिमार्जित करने के लिए तत्वदर्शी समाज दृष्टा को महत्त्व देते थे और उसके अनुसार चलते थे।[1]

१. भा. नी. वि., पृ. २-२६

बाद के साहित्य में श्रीमद्‌भगवत्‌गीता का महत्व अत्यधिक रूप से स्वीकृत है। इस ग्रन्थ में वर्णों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि भगवान्‌ का यह स्वयं कथन है कि गुण और कर्म विभाग के अनुसार चारों वर्णों की सृष्टि उन्होनें स्वयं की है। इसमें से जो वर्ण हैं उनका अर्थ वरण करने अर्थात्‌ स्वीकार करने से लिया जाता है। इसका मन्तव्य यह है कि किसी भी वर्ण का व्यक्ति उस वर्ण में पहुँचकर उसके कर्तव्यों का वरण करता है। इससे वह उन वर्णों के लिए निर्धारित कर्मों को अपना कर्तव्य मानकर करता है और अपने व्यक्तिगत जीवन को सुखी तथा सम्पन्न बनाता है।[1]

इसी प्रकार से आश्रमीय व्यवस्था को भी व्यक्ति के हित के रूप में और समाज के उत्कर्ष के रूप में देखा जा सकता है। आश्रम से सम्बन्धित अभिप्राय को व्यक्त करते हुये यह संकेत किया गया है कि व्यक्ति जहाँ पहुँचकर श्रम से मुक्त हो जाता है उसे आश्रम कहा जाता है। अथवा इसका अभिप्राय यह भी हो सकता है कि जहाँ पहुँचकर व्यक्ति अपने लिए निर्धारित कार्य करे और श्रमित हो जाये उसे आश्रम कहा जाता है। एक दूसरे प्रकार की व्याख्या यह भी है जिसमें यह इंगित किया गया है कि आश्रम जीवन की वह स्थिति है जिसमें अपना कर्तव्य-पालन करने के लिए पूर्ण श्रम किया जावे।[2] इस रूप में आश्रम की चाहे जो व्याख्या स्वीकृत की जाये इतना संकेत अवश्य मिलता है कि आश्रम व्यवस्था एक महत्वपूर्ण व्यवस्था है।

....

१. भ. गी. ४।१३

१. हि. वि. १, पृ. ४२७

इन सभी संकेतों का यदि हम सांकेतिक अभिप्राय ग्रहण करें तो यह प्रतीत होता है कि प्राचीन समय की वर्ण–व्यवस्था यद्यपि प्रत्यक्ष रूप में व्यक्ति के कर्तव्यों का कथन करती थी, तथापि वह व्यवस्था व्यक्तियों के समूह के माध्यम से सामाजिक स्वरूप भी प्रदान करती थी। जब व्यक्ति–व्यक्ति स्तर पर किसी वर्ण का सदस्य होता हुआ अथवा आश्रम का सदस्य होता हुआ अपने कर्तव्यों का निर्वाह करता था तब उसकी यह नीति वैयक्तिक स्तर पर दिखाई देती थी। इसके विपरीत जब वही व्यक्ति समाज का एक अंग होकर सामाजिक रूप से उन कर्तव्यों का पालन करता हुआ नीति और आचार को व्यक्त करता था तब उसकी व्याख्या सामाजिक स्तर करणीय होती थी। इस रूप में हम यह देख सकते हैं कि कर्तव्य रूप में विविध नीति अंग और आचार के विविध रूप समाज को सांस्कृतिक दृष्टि से भी व्यक्त करते थे और इस तरह पूरा का पूरा समाज संस्कारों से संस्कृत दिखाई देता था। वे संस्कार ऐसे थे जो व्यक्ति के द्वारा धारण किये जाने पर व्यक्ति को परिपूर्ण करते थे और समाज के द्वारा स्वीकृत किये जाने पर समाज को श्रेष्ठ स्वरूप प्रदान करते थे। इस रूप में जहाँ समाज की नीतियाँ और आचार प्रकट होते थे वहीं समाज का सांस्कृतिक स्वरूप भी पुष्ट होकर प्रकट होता था।

(घ) धर्म तथा नीति का साम्य-वैषम्यः-

जब प्राचीन समय में मनुष्य के विषय में विचार करने का प्रयत्न किया गया तो यह कहा गया कि यदि मनुष्य की प्रवृत्तियों का अवलोकन किया जाये तो उसकी प्रवृत्तियों में और पशुओं की प्रवृत्तियों में लगभग समानता होती है और इस दृष्टि से इनमें कोई बहुत बड़ा भेद नहीं होता है। इसके लिए यह कहा गया है कि जैसे आहार, निद्रा, भय और मैथुन की प्रवृत्तियाँ पशुओं में होती हैं उसी तरह से ये प्रवृत्तियाँ मनुष्यों में भी देखी जाती हैं। इसमें भी एक विचित्रता यह है कि आहार, निद्रा, भय और मैथुन आदि में पशु प्राकृतिक रूप से संयमित होता है जबकि मनुष्य में किसी प्रकार का संयम नहीं होता। इस दृष्टि से देखा जाये तो मनुष्य पशु की अपेक्षा हीन होता है इसलिए विवेकी जन यह कहते हैं कि इन प्रवृत्तियों के समान होने पर मनुष्य में यदि कोई विशेषता है और जिसके कारण वह मनुष्य है तो उसकी यही विशेषता है कि वह धर्म को धारण करने वाला हो। यदि मनुष्य में धर्म की धारणा नहीं होगी तो वह एक प्रकार से पशु ही माना जायेगा क्योंकि उसमें वे सभी पशुता की वृत्तियाँ विद्यमान होगीं जो पशुओं में होती है और जिन वृत्तियों की निम्नता के कारण पशु को पशु माना जाता है। इसलिए मनुष्य की पहचान उसके धर्म के द्वारा ही सम्भव है और धर्म धारण करने से ही वह विशिष्ट पुरुष है।[१]

१. म. भा. शा. २९४|२९

धर्म व्यापक है इसलिए कहीं उसे श्रौत, स्मार्त और शिष्टाचार के रूप में कहा गया है[1] तो कहीं पर यज्ञ, अध्ययन और दान के रूप में उसका परिचय है। धृति, क्षमा आदि के रूप में कहीं पर धर्म के दस अङ्कों का कथन है।[2] जो मनुष्य के जीव के सद्गुण हैं जबकि कहीं पर धर्म को वर्णाश्रम कर्तव्य के रूप में विशेष धर्म के रूप में कहा गया है और अहिंसा, सत्य तथा अस्तेय के रूप में सामान्य धर्म के रूप में कहा गया है।[3]

इस रूप में धर्म की अवधारणा का व्यापक फलक है और इसकी सार्थकता व्यक्ति के द्वारा धारण करने पर ही है। यह ऐसा सद्गुणों का समूह है जिसके धारण करने पर मनुष्य अपने को विशेष रूप में व्यक्त कर पाता है।

'नी' धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाकर 'नीति' शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है ले जाने वाला। अर्थात् नीति वह है जो किसी भी व्यक्ति को किसी सत् मार्ग पर ले जाये जिससे लौकिक और पारमार्थिक अर्थ सिद्धि होवें।[4] एक दूसरा कथन इस प्रकार का भी है जिसमें यह संकेत है कि नीति दर्शन का वह पक्ष है जिसमें मानवीय व्यवहार का मूल्यात्मक विवेचन किया जाता है। अर्थात् नीति के माध्यम से यह ज्ञात किया जाता है कि क्या औचित्य पूर्ण है और क्या अनौचित्य पूर्ण है। इस रूप में जो नीति है वही धर्म है और सामान्य रूप से भिन्न दिखायी दिये जाने पर भी इनमें कोई बड़ा अन्तर नहीं है।

१. बौ. ध. शू. पृ. ५८
२. छा. उ., पृ. २२७ तक शांकरभाष्य
३. म. स्मृ. २/१८, या. स्मृ. २/२
४. सं. श. कौ., पृ. ६२८

(ड) आचार तथा नीति का साम्य वैषम्यः-

'चर्' धातु से विचरण करने के अर्थ में 'धञ्' प्रत्यय का योग करने पर आचार शब्द बनता है। एक संस्कृत के शब्दकोश में इसका जो अर्थ दिया गया है उसका अभिप्राय होता है- चरित्र, नीति, सदाचार और शील। इस रूप में यदि देखा जाये तो आचार भी नीति का एक स्वरूप है। अथवा यह कह सकते है कि नीति के अन्तर्गत ही आचार को ग्रहण किया जा सकता है।

इस सन्दर्भ में यह कहना भी संगत होगा कि जिन विशेष सत्यपरक विचारों से व्यक्ति सत् मार्ग पर चलता है उन विचारों के समूहों को नीति कहा जा सकता है। वे विचार ही मनुष्य को एक सार्थक दिशा में ले जाते हैं। जब उन्हीं विचारों के अनुरूप व्यक्ति अपने जीवन में व्यवहार करने लगता है तो वही आचार बन जाते हैं। इसलिए इस दृष्टिकोण के अनुसार हम यह कहना उचित समझते हैं कि नीति और आचार में कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं होता।
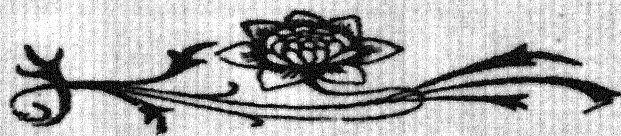
द्वितीय अध्याय

(पुराण परम्परा एवं विष्णु पुराण)

पुराण शब्द का क्या अभिप्राय है और पुराण किस अर्थ के वाचक हैं इस पर अनेकानेक मत दिए गए हैं और तरह-तरह से अपने मतों को व्यक्त करके विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अपने निष्कर्ष भी दिए हैं। यद्यपि व्याकरण शास्त्र के अनुसार पुरा अव्यय पूर्वक णी धातु से 'ड' प्रत्यय करने के बाद यह शब्द सिद्ध होता है और इस शब्द का नपुंसकलिङ्ग में प्रयोग होने से इसे विशेषण के रूप में स्वीकार किया जाता है। अन्य और भी अनेक सूत्र इसमें योजित करके पुराण शब्द को सिद्ध करते हैं। इसके अतिरिक्त जिन ग्रन्थों में यह व्यक्त किया गया है अथवा जहाँ पर कहा गया है कि प्राचीन काल में ऐसा हुआ था- वे ग्रन्थ पुराण संज्ञक कहे गये हैं।[१] इसी प्रकार से पुरानोभवति इस व्याख्या के आधार पर यह कहा जाता है कि जो 'पुरानी' अर्थात् प्राचीन परम्परा को नवीनता प्रदान करता है उस साहित्य को पुराण साहित्य कहा जा सकता है।[२] एक मन्तव्य इस प्रकार का है कि 'पुरा विद्यते इति पुराणम्' अर्थात्- प्राचीन समय में जो विद्यमान थे उन्हें पुरा कहा जाता है क्योंकि पुरा का अर्थ परम्परा होता है। इसलिए परम्परा से जो प्राप्त है अथवा जिसमें परम्परा का निबन्धन हो उसे पुराण साहित्य कहते हैं।[३]

---

१. ब्रह्माण्ड. पु. १/१/१७६

२. निरुक्त ३/१९

३. प. पु. ५/२/५३

संस्कृत-साहित्य के मनीषी पण्डित बलदेव उपाध्याय ने पुराणों के संदर्भ में विचार करते हुए अनेक प्राचीन संदर्भ दिए हैं। उन्होंने उन सन्दर्भों को समेकित करके उनके आधार पर जो मन्तव्य प्रकट किया है उसके अनुसार वे कहते हैं कि पुराण शब्द का अर्थ प्राचीन अथवा पूर्व काल में होने वाला हो सकता है।[१] इसी तरह से एक दूसरे विवेचक आचार्य ने 'इति नः श्रुतम्', 'इति श्रुतः', 'इति श्रूयते-' इन पदों का अर्थ करते हुये यह लिखा है कि ऐसा सुनाया गया है, ऐसा सुना है आदि शब्दों के प्रयोग से यह कहना संगत हो सकता है कि पुराणों में वर्णनीय विषयों की प्राचीनता का संकेत है। इन संकेतों से यह मत व्यक्त करना सम्भव है कि जिन ग्रन्थों में प्राचीनता का आग्रह हो और उसी दृष्टि से वर्णनीय विषयों का वर्णन किया जाये तो उन्हें पुराण कहा जा सकता है।[२]

ये सभी मत भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक अभिप्राय की ओर लगभग एक जैसी दृष्टि से संकेत करते हैं। उस दृष्टि से इनका यह अभिप्राय व्यक्त होता है कि जिन ग्रन्थों में प्राचीन परम्परा का निर्वाह होता है और उसे नवीन रूप देने का प्रयास किया जाता है वे ग्रन्थ पुराण ग्रन्थ कहे जा सकते हैं। इसीलिए एक आचार्य ने यह मन्तव्य दिया है कि पुराण शब्द का अर्थ पुरातन, पुराना किया जा सकता है। संज्ञा रूप में पुराण का बोध पुरातन आख्यानों से होता है।[३]

---

१. पु. वि., पृ. ५

२. हरि. पु. सां. अ., पृ. १

३. पु. स., पृ. ६

(ख) पुराण संरचना की पृष्ठभूमि, समय तथा रचयिता :-

आधुनिक इतिहासविद् यद्यपि पुराण-साहित्य को बहुत प्राचीन वाङ्मय नहीं मानते और यह कहते हैं कि पुराण साहित्य की रचना बहुत बाद की रचना है। सम्भव है कि तर्कों के आधार पर उनका यह निष्कर्ष उचित ठहराया जा सके किन्तु पुराणों के संकेत वैदिक काल में ही किये जाने लगे थे। इस सन्दर्भ में यदि हम पुराण शब्द को उद्धृत करना चाहें तो वेदों में भी आदि वेद पुराण का उल्लेख ऋग्वेद में किया हुआ देख सकते हैं। वहाँ पर 'पुराण' तथा 'पुराणी' शब्द का उल्लेख प्राप्त हैं।[1] इसी तरह से वैदिक ग्रन्थों के क्रम में अथर्ववेद अपेक्षाकृत बाद का वेद है किन्तु इस वेद में भी 'पुराण' तथा 'पुराणविद्' शब्द का प्रयोग किया गया है।[2] एक स्थान पर ''सनापुराणमध्येरात-'' इस वाक्य के द्वारा यह कहा गया है कि अब मैं सनातन पुराणों का अध्ययन करता हूँ। दूसरे एक स्थान पर कहा गया है कि हे अश्विनी कुमारों! आप दोनों का स्थान पुराण है, आपकी मित्रता से बहुत कल्याण होता है।[3]

इस परम्परा के बाद रचित ग्रन्थों में पुराण के पाठ की विधिवत् व्यवस्था का निर्देश किया गया है। इस निर्देश में यह संकेत है कि जब यज्ञ सम्पन्न हो जायेऔर उसका नवाँ दिन आ जाये तो पुराण का पाठ करना चाहिए।

---

१. ऋक्. १०/१२०/६, ६/६६
२. अ. वे. ११/८/७, ११/७/८७
३. ऋक्. ३/५८/६

इसी सातत्य में एक और कथन किया गया है जिसमें यह कहा गया है कि इतिहास और पुराण का पाठ प्रतिदिन करना चाहिए, जो ऐसा विश्वास करता हुआ प्रतिदिन इनका पाठ करता है वह देवताओं को तृप्त करता है।[१]

एक उपनिषद् में सनत्कुमार और नारद के सम्वाद में इस प्रकार का संकेत किया गया है जिसमें यह कहा गया है कि जब सनत्कुमार ने नारद से प्रश्न किया तो उस प्रश्न का उत्तर देते हुये नारद ने यह कहा था कि भगवन् मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास और पुराण का अध्ययन किया है।[२] इस संकेत में जहाँ पर चारों वेदों का उल्लेख किया गया है वहीं पर इतिहास और पुराण का उल्लेख मिश्रित रूप से प्राप्त होता है। इससे पुराणों की ऐतिहासिकता और इतिहास के सम्बन्ध में उनकी भूमिका का रेखांकन भी होता है। उपनिषदों में पुराणों से सम्बन्धित और भी उल्लेख हैं। जैसे कि एक सन्दर्भ में एक रूपक प्रस्तुत करते हुये यह वर्णन आया है कि जिस प्रकार से जलती हुई गीली लकड़ी से धुँआ उत्पन्न होता है उसी प्रकार से ईश्वर के निश्वास से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास और पुराण उत्पन्न हुये हैं।[३]

इन सभी सन्दर्भों से यह कहना अतिश्योक्ति नहीं होगी कि पुराणों का विधिवत् सृजन और उनका ग्रन्थों के रूपों में अवतरण भले ही बाद में हुआ हो किन्तु पुराण कथाओं के बीज और विशिष्ट साहित्य के रूप में पुराणों का संकेत उपनिषदों में स्पष्ट रूप से किया गया है।

---

१. श. ब्रा. ११/५/७/६

२. छान्दो ७/१/४

३. बृ. उ. २/४/१०

इन प्राचीन उद्धरणों के अतिरिक्त अनेक स्मृतिकारों ने भी अपनी स्मृतियों में पुराणों का स्मरण किया है। जैसे कि महर्षि उशनस् ने अपनी स्मृति में पुराण शब्द का उल्लेख करते हुये यह लिखा है कि आचार्य एक सम्वत् सर तक शिष्य की परीक्षा लेने के बाद उसे वेद धर्मशास्त्र और पुराणों का अध्ययन करावें।[1] इसका अभिप्राय यह हुआ कि पुराणों के अध्ययन के लिए विद्यार्थियों से अपेक्षा की जाती थी कि वे पहले वेदों और धर्मशास्त्रों के अंगों का अध्ययन भली प्रकार कर लेवें तब पुराणों के अध्ययन की ओर बढ़ें। इसका अभिप्राय सम्भवतः यह था कि जब तक अन्य ग्रन्थों के अध्ययन से बुद्धि पुष्ट न हो जावे तब तक पुराणों का अध्ययन न करें। ऐसा ही एक स्मृति पुराणों के सम्बन्ध में और संकेत करती है जिसमें यह विधान निर्दिष्ट है कि श्राद्ध के समय वेद, धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास और पुराण आदि सुनना चाहिए।[2] वाल्मीकि रामायण महाकाव्य लौकिक संस्कृत साहित्य का आदिकाव्य है। इस काव्य में भी पुराण का संकेत है जिससे यह ज्ञात होता है कि वाल्मीकि रामायण की रचना समय तक पुराण परम्परा ज्ञात हो चुकी थी।[3] इन सब सन्दर्भ से भी पुराणों की स्थिति का ज्ञान होता है और यह भी आभास होता है कि उस समय तक पुराण समाज में प्रचलित हो चुके थे और प्रतिष्ठित ग्रन्थों के रूप में उन्हें स्वीकृति प्राप्त हो चुकी थी।

१. उ. स्मृ. ४/३४
२. म. स्मृ. ३/२३२
३. बा. रा. बालकाण्ड ९/१

आचार्य कौटिल्य ने जब पुराणों का उल्लेख किया है तब वे रामायण, महाभारत, इतिहास और आख्यायिका का उल्लेख करते हुये पुराणों का भी संकेत करते हैं तथा इन्हें धर्मशास्त्र और इतिहास में भी सम्मिलित करते हैं।[१] एक और स्मृतिकार इसी प्रकार से पुराणों के विषय में अपना मन्तव्य देते हुये यह लिखते हैं कि सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश और वंशानुचरित पुराणों के लक्षण हैं। वे इस सन्दर्भ में यह संकेत करते हैं कि पुराण इन्हीं चार प्रकार की विषय वस्तुओं से संगठित होते हैं। इसी क्रम में जब उन्होंने धर्म की व्याख्या की है तो धर्म का अभिमत व्यक्त करते हुये यह लिखा है कि धर्म का तत्त्व अत्यधिक गहन है इसलिए मनुष्य का कर्तव्य है कि वह श्रुतियों, स्मृतियों और पुराणों में प्रतिपादित धर्म का पालन करें।[२]

इन सभी उदाहरणों ओर सन्दर्भों से यही निश्चयात्मक रूप से कहना सम्भव हो सकता है कि पुराणों का ग्रथन विधिवत् रूप से चाहे भले ही बाद में हुआ हो किन्तु पुराण कथाओं के बीज प्रारम्भिक समय से ही विद्यमान थे। प्रारम्भ में पुराणों के जो कथानक यत्र-तत्र बिखरे हुये बीज रूप में थे समय-समय पर वे विकसित होते गये और अपने सामाजिक सन्दर्भ से स्वीकृत भी होते गये। ऐसा ही एक पाश्चात्य विद्वान् स्वीकार करता है और वह पुराणों को वेदोत्तरवर्ती विकास परम्परा का फल मानता है।[३]

---

१. कौ. अ., पृ.१६
२. शु. नी. ४/२६४
३. हि. इ. लि. (१), पृ. ५१८

समय और रचनाकार :-

यदि निश्चित रूप से यह कहना हो कि पुराणों के रचना का समय कौन सा है तो यह कहना इसलिए कठिन है क्योंकि इनकी रचना का समय कोई एक निश्चित कालखण्ड नहीं हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पुराणों की रचना का समय पुराना और नया दोनों हो सकता है। यद्यपि कहीं-कहीं पर कुछ शब्दों के माध्यम से यह कहा जाता है कि पुराण कथानकों के बीज अत्यधिक प्राचीन वाङ्.मय में देखे जाते हैं। अथर्ववेद में जो 'पुराणवित्' शब्द प्राप्त होता है,[1] उससे इतिहासकारों ने यह संकेत ग्रहण किया है कि इस शब्द का संकेत उन मनस्वियों की ओर हो सकता है जो पुराण-रचना के आचार्य थे। वे ऐसे विद्वान् थे जिन्होंने पुराण कथाओं के आदि बीजों का पल्लवन किया होगा। शतपथ ब्राह्मण और गोपथ ब्राह्मण में पुराणों के होने के संकेत इस रूप में हैं जिसमें स्पष्ट रूप से इतिहास के साथ पुराण का उल्लेख है और पुराण को एक ऐसी विधा माना गया है जो ब्राह्मण, उपनिषद् और इतिहास के साथ गिनी जाती है।[2] इस दृष्टि से यह कह दिया जाता है कि वैदिक काल से ही पौराणिक आख्यानों के बीज यत्र-तत्र हैं। यद्यपि आज पुराण जिस रूप में प्राप्त हैं वह इनका स्वरूप पश्चात् कालिक है।

---

१. पु. स., पृ. ३४, ३५

२. श. ब्रा. १४/१६/१०/६, गो ब्रा. २/१०

सूत्रकाल में भी पुराणों की महत्ता को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि जो पुराणों का अध्ययन विधि पूर्वक करता है वह अमरत्व को प्राप्त करता है।[१] इसी तरह से एक उदाहरण इस प्रकार निर्दिष्ट किया जा सकता है जो संकेत रूप में पुराणों के महत्त्व को इंगित करता है। उसमें यह कहा गया है कि यदि कभी पुराण पाठ करते हुये यज्ञ की अग्नि प्रदीप्त हो जाये तो वह मंगलकारक होती है।[२]

इस सन्दर्भ में यह निष्कर्ष के रूप में कहना संगत हो सकता है कि सूत्रकाल तक जिसे ई. पूर्व की पाँचवीं तथा छठवीं शताब्दी माना जा सकता है, पुराणों की संरचना किसी न किसी रूप में हो चुकी थी।[३] एक मन्तव्य यह है कि आपस्तम्ब धर्मसूत्र की रचना के समय कम से कम एक पुराण की रचना अवश्य हो चुकी थी क्योंकि तब तक के समय में धर्मसूत्रों में अनेक पुराणों का उल्लेख किया जा चुका था। पुराण रचना की समीक्षा करते हुए आचार्य बल्देव उपाध्याय ने इसी तरह का मन्तव्य व्यक्त किया है।[४]

---

१. आ. गृ. सू. ३/४, ४/६
२. वही, ४/६
३. पु. स. पृ. ३७, ह. पु. शां. अ., पृ.११
४. पु. वि., पृ. १६

पुराणों की रचना के विषय में और उनके काल निर्धारण के विषय में अन्य अनेक स्थानों पर विचार किया गया है। महाभारत महाकाव्य में ऐसा सन्दर्भ आया है जिसमें यह विवेचना है कि महाकाव्य महाभारत की रचना भगवान् वेदव्यास ने पुराणों की रचना के बाद में की।[१] दूसरा एक सन्दर्भ यह दिया जाता है कि महाभारत का जनमेजय का जो नागयज्ञ का वर्णान है वह वायु पुराण से संग्रहीत किया गया है। एक विदेशी विद्वान् ने भी यह स्वीकार किया है कि वायु पुराण का जनमेजय यज्ञ महाभारत से प्राचीन है।[२] इस रूप में अनेक विश्लेषक यह स्वीकार कर लेते हैं कि महाभारत की रचना के पूर्व अनेक पुराण लिखे जा चुके थे।[३]

संस्कृत वाङ्मय की परम्परा में कौटिल्य अर्थशास्त्र एक ऐसी रचना है जो न केवल ऐतिहासिक विषय प्रस्तुत करती है अपितु स्वयं भी इतिहास में प्रतिष्ठित रचना है। इसका रचनाकाल निर्धारित करते हुए विद्वानों ने इसे तीसरी अथवा चतुर्थ शताब्दी का रचनाकाल माना है।[४] इस रचना में पुराणों के महत्त्व को प्रस्तुत किया गया है और अनेक स्थानों पर पुराणों के विषय में संकेत किया गया है। एक स्थान पर यह निर्देश है कि राजा अन्य साहित्य पढ़ने के साथ-साथ यथा समय पुराण भी पढ़ें और दूसरे जो विद्वान् हैं उन्हें आजीविका के लिए एक हजार पण वेतन देवें।[५]

१. म. भा. १८/६/६५
२. वि. ग्रे. ए. इ. , ४८
३. ए० हि० सं० लि० , पृ० २६६
४. कौ० अ० भू०, पृ० ३६, १६
५. वही, पृ० ५१३

जब पुराणों के रचना-काल के विषय में विचार किया जाता है तो पुराणों का उल्लेख स्मृतियों में किस प्रकार से हुआ है; इसका विवेचन करना भी सार्थक हो जाता है। विभिन्न स्मृतियों का अवलोकन करने पर दृष्टिगत होता है कि स्मृतियों में यत्र-तत्र पुराणों के उल्लेख किये गये हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि उस समय तक, जब स्मृतियाँ अपना स्वरूप निर्धारित कर चुकी थीं, पुराणों की रचना हो चुकी थी। स्मृतियों में जिस रूप में पुराण उल्लिखित हैं उसमें एक सन्दर्भ ऐसा है जिसमें यह कहा गया है कि पितृश्राद्ध के समय वेदशास्त्र, धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास और पुराणों का सृजन अवश्य किया जाना चाहिए।[१] दूसरी एक स्मृति में द्विजों के लिऐ इस प्रकार का निर्देश है कि द्विजों को चाहिए कि वे अपना जीवन पौराणिक धर्म के अनुकूल व्यतीत करें। अर्थात् धर्म की जो व्यवस्था पुराणों में प्राप्त है द्विज उसके अनुरूप अपना आचरण करें।[२] एक अन्य स्मृतिकार यह लिखते हैं कि विद्याओं की संख्या चौदह कही गयी है इसमें से एक विद्या पुराण विद्या भी है। इस विद्या का यह महत्त्व भी है कि जो पुराण विद्या पढ़ता है उसे देवताओं की और पितरों की भक्ति प्राप्त होती है।[३] आचार्य शुक्र पुराण अध्येताओं की बुद्धि को विलक्षण मानते हैं इसलिये वे लिखते हैं कि राजकीय कार्य के निष्पादन में पौराणिकों का उपयोग किया जाना चाहिए।[४]

---

१. म. स्मृ., ३/२३२

२. व्या. स्मृ. २१५

३. पा. स्मृ. , पृ. ४६

४. सु. नी. पृ. ८३

संस्कृत साहित्य की परम्परा में गद्य-साहित्य का स्थान भी अनुपमेय है। गद्य परम्परा में भी बाण और उनकी कादम्बरी अपना एक विशेष स्थान रखती है। इतिहासकारों ने बाण और उनकी कादम्बरी का रचनाकाल सप्तम् शताब्दी के आस-पास का माना है। बाण ने अपनी रचनाओं में अनेक स्थानों पर पुराणों का संकेत किया है।[1] एक स्थान पर बाण ने 'पुराणेषु वायु प्रलपितम्' जैसे वाक्यों का प्रयोग किया है। इसमें न केवल एक पुराण का संकेत है अपितु अनेक पुराणों के समूह का संकेत इस वाक्य से मिलता है। अन्य जो वर्णन हैं उसमें भी जहाँ पर इस गद्यकार ने ऋषियों के आश्रमों का वर्णन किया है, वहाँ पर पुराणों का उल्लेख है।[2]

शास्त्रों की परम्परा में जिस तरह स्मृतियों को प्रतिष्ठा प्राप्त है उसी तरह से पुराण भी प्रतिष्ठित शास्त्र हैं। इनकी इसी प्रतिष्ठा को देखकर कुछ आचार्यों ने यह संकेत किया है कि गुप्तकालीन तथा गुप्तोत्तर कालीन संदर्भों के जो संदर्भ प्राप्त होते हैं उनमें पुराणों का उल्लेख है। इनमें से ब्रह्म पुराण, भविष्य पुराण और गरुड़ पुराण का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया गया है।[3]

---

१. का० क० भू० पृ० २०
२. वही, पृ० १२८-२८१
३. ज०रा०ए०शो० (१६२१) पृ० २४८,२५५

विष्णु पुराण की रचना काल के सम्बन्ध में निश्चित कहना कुछ भी सम्भव तो नहीं है किन्तु जिस प्रकार से वायु पुराण का उल्लेख प्राप्त होता है और यह माना जाता है कि यह एक प्राचीन पुराण है उसी रूप में यह भी कहा जाता है कि विष्णु पुराण की रचना शैली और वर्ण्य-विषय वायु पुराण के अनुकूल हैं। इन दोनों प्रकार की रचना शैलियों की पुष्टता से यह अनुमान होता है कि उस समय तक पुराणों की रचना पुष्ट रूप में हो चुकी थी। जहाँ तक इनके रचना समय का प्रश्न है तो यह अनुमान किया जा सकता है कि यह समय वंशीय शासन का रहा होगा। यह समय पाँचवीं शताब्दी के आस-पास का हो सकता है।[१]

मत्स्य पुराण के विषय में यह कहा गया है कि यह पुराण प्राचीन पुराण है और कई अन्य पुराणों की रचना का स्त्रोत है। कालिदास के नाटक विक्रमोर्वशीय में मत्स्य पुराण का उल्लेख होने से यह माना जाता है कि यह पुराण ईसा के पूर्व २०० से ४०० शताब्दी का होना चाहिए।[२] इस रूप में विष्णु पुराण को भी इसी समय की रचना माना जा सकता है क्योंकि मत्स्य पुराण की समान शैली होने के कारण और विषय-वस्तु में समानता होने के कारण इसकी रचना ईसा पूर्व २०० से ४०० वर्ष तक के समय की हो सकती है। विष्ण पुराण की शैली परिपुष्ट शैली है और इसमें जिन विषयों का संकेत किया गया है वे सभी विषय और कथायें अधिकतम रूप से संकलित हैं।

---

१. ए०इ० हि० दे०,पृ० ८०
२. पु० वि० पृ० ५४३-५४४

एक दूसरी दृष्टि से अर्थात् साम्प्रदायिक विचार धारा की दृष्टि से जब पुराणों के रचनाकाल पर विचार किया जाता है तो यह कहा जाता है कि पुराण वर्तमान स्वरूप में बहुत बाद के समय में रचे गये हैं। इन पुराणों में रामानुजाचार्य सम्प्रदाय, मध्वाचार्य सम्प्रदाय और बल्लभाचार्य आदि सम्प्रदायों के मतों का उल्लेख यत्र-तत्र देखने को मिलता है। ये आचार्य चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी के आचार्य हैं। इसलिए इस दृष्टि से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि इनका समय बहुत बाद का समय होना चाहिए और यह समय पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद तक का हो सकता है।[१]

यह तो दृष्टिगत है ही कि पुराणों का कलेवर बहुत विशाल है बहुत व्यापक है और विषय वस्तु विविध रूप में संजोयी गयी है। इसलिये इनकी विशालता, व्यापकता और विविधता को देखकर पुराणों के रचना का एक निश्चित समय कह पाना कठिन है। फिर भी अधिकतम रूप में जो माना जाता है उसके अनुसार यह कहा जाता है कि पुराणों की आख्यान अवस्था बारह सौ वर्ष ईसा पूर्व से लेकर ६५० वर्ष ईसा पूर्व तक हो सकती है। इसी तरह से जो पुराणों में पञ्च लक्षणों का समावेश किया गया है वह ५०० वर्ष ईसा पूर्व से लेकर ईस्वीय की प्रथम शताब्दी तक हो सकता है जबकि इनका साम्प्रदायिक रचना काल प्रथम शताब्दी से सप्तम् शताब्दी तक का हो सकता है।[२]

---

१. पु०सं०, पृ० ४७
२. पु०प० (भाग १), पृ० २१३, २१६

अनेकों पुराणों में इस प्रकार के सन्दर्भ हैं कि पुराणों की रचना वेदव्यास ने की है। यह परम्परा से भी कहा और सुना जाता है कि वेदव्यास ही पुराणों के रचनाकार हैं। एक पुराण में इस प्रकार का उल्लेख प्राप्त है जिसमें यह कहा गया है कि ईश्वर ने उस युग में व्यास का रूप धारण किया और पुराणों की रचना की।[१]

व्यास शब्द के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि यद्यपि व्यास किसी एक व्यक्ति का नाम नहीं हो सकता है किन्तु पुराने समय में जो अनेक कथानक और आख्यान सुनाया करते थे उनकी उपाधि व्यास हुआ करती थी।[२]

सामान्य रूप से यदि पुराणों का कलेवर देखा जाये अथवा इन पुराणों में आयी हुई कथाओं का अनुमान किया जाये तो यह कहना सम्भव प्रतीत नहीं होता कि किसी एक व्यक्ति ने ही इन पुराणों की रचना की हो अथवा इनकी कथा सुनाई हो। जो विद्वान् वक्ता पुराने समय में इसी प्रकार से पुराण लिखते थे अथवा पुराणों की कथायें कहते थे वे व्यास की पदवी से जाने जाते थे। इसी के साथ एक तर्क यह भी दिया जाता है कि अलग-अलग पुराणों की भाषा शैली अलग-अलग है, इसलिए भी यह प्रतीत होता है कि सभी पुराणों के रचनाकार केवल व्यास ही नहीं हो सकते हैं।[३]

एक सन्दर्भ तो ऐसा भी है जिसमें अष्टादश पुराणों के व्याख्याता के रूप में महर्षि मनु का नाम लिया गया है।[४]

---

१. म०पु०(१), पृ० २१८
२. सं०श० कौ०, पृ १०८१
३. प०पु०(१), पृ० ४०-४१
४. प०पु० (पाताल खण्ड) १११/६८

भाषात्मक दृष्टि से यदि देखा जाय तो केवल विष्णु पुराण रमणीय है, सरस है और सुन्दर है। इस पुराण की गद्य शैली देखकर उस समय की सुन्दर गद्य शैली की झलक मिलती है। भाषा की दृष्टि में श्रीमद्भागवत की भाषा न केवल क्लिष्ट है अपितु कहीं-कहीं अतिक्लिष्ट है, जबकि पदम् पुराण ने यह सन्दर्भ भी दिया है कि ब्रह्मा ने भिन्न-भिन्न युगों में व्यास का रूप धारण कर विविध पुराणों की रचना की।[१] इस रूप में यह मान्य हो सकता है जैसे कि विविध पुराणों की भाषा अलग-अलग है शैली भिन्न-भिन्न है तो इस रूप में यह कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न पुराणों के रचनाकार भिन्न-भिन्न व्यास हो सकते हैं।

इन सभी तर्कों और सन्दर्भों के बल पर चाहे इतिहासगत रूप में, भाषागत रूप में अथवा व्यास शब्द की व्युत्पत्ति से विचार किया जाये; सभी का अपना-अपना तर्क है और वह तर्क ऐसा नहीं है जिसकी उपेक्षा पूरी तरह से की जाये। किन्तु लोकभावना के अनुरूप वेदव्यास को ही पुराणों का रचनाकार माना जाता है जिसकी उपेक्षा पूरी तरह से नहीं की जा सकती है।

---

१. प०पु०, सृष्टि खण्ड १/५०

(ग) पुराण वर्गीकरण तथा विषय सङ्केत :-

पुराण साहित्य भारतीय वाङ्मय में एक विशाल साहित्य है। इसी के साथ ही साथ इन पुराणों में अनेक विषयों का समावेश भी है। इन पुराणों की एक विशेषता यह भी है कि प्रत्येक पुराणकार का अपना एक इष्ट है। इसलिए जिस पुराण में जिस इष्ट को स्वीकार किया गया है उसका वर्णन भी अतिशयता से किया गया है। जैसे विष्णु पुराण में विष्णु का वर्णन है, शिव पुराण में शिव का वर्णन है, लिङ्ग पुराण में लिङ्ग का वर्णन है। इस रूप में जहाँ पर विष्णु का वर्णन किया जाता है वहाँ पर यह कहा जाता है कि वे ही सृष्टि के उत्पत्तिकर्ता हैं, वे ही सृष्टि के पालक हैं और वे ही सृष्टि के संहारक हैं।[१] इसी तरह से जब भगवान् शङ्कर का वर्णन किया जाता है तो वहाँ पर यह प्रस्तुत किया जाता है कि शङ्कर त्रिकालज्ञ हैं, अविनाशी हैं और हिरण्यगर्भ हैं। वे तीनों कालों को देख सकते हैं और उनका कभी विनाश नहीं होता है। ऐसे ही जब लिङ्ग पुराण की रचना की गई तो लिङ्ग को सर्वातिशायी देवता के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया। वहाँ पर यह कहा गया कि लिङ्ग ही शिव हैं उनकी आज्ञा पाकर ही उनकी शक्ति अन्त में उन्हीं में समाहित हो जाती है।

---

१. वि. पु., पृ० ४६

एक स्थान पर देवताओं को और सम्प्रदायों को आधार बनाकर पुराणों का वर्गीकरण किया गया है। इस वर्गीकरण में शैव पुराण, विष्णु पुराण, ब्रह्म पुराण, अग्नि पुराण और सूर्य पुराण के क्रम से पुराण विभाजन है। इसमें शैव पुराणों में शिव पुराण, भविष्य पुराण, मार्कण्डेय पुराण, लिङ्ग पुराण, वराह पुराण, स्कन्ध पुराण, कूर्म पुराण, वामन पुराण और ब्रह्माण्ड पुराण को सम्मिलित किया गया है। वैष्णव पुराणों में विष्णु पुराण, भागवत पुराण, नारद पुराण और गरुड़ सम्मिलित हैं। ब्रह्म पुराण में ब्रह्म पुराण तथा पदम् पुराण आकलित किये गये हैं। अग्नि पुराण में अग्नि पुराण और सूर्य पुराण में ब्रह्मवैवर्त पुराण सम्मिलित हैं।

यह पुराण वर्गीकरण देवताओं का विचार करके किया गया है और इस वर्गीकरण में देवताओं की प्रमुखता है। पुराणों के इस वर्गीकरण के अतिरिक्त एक दूसरा वर्गीकरण भी प्राप्त है जो पुराणों के गुणों पर आधारित हैं। जैसे कि तामस्, राजस् और सात्विक पुराणों का वर्गीकरण गुणाधारित है। इसमें मत्स्य, कूर्म, लिङ्ग, शिव, स्कन्ध और अग्नि पुराण तामस् पुराण हैं। विष्णु, नारद, भागवत, गरुड़, पद्म और वराह पुराण सात्विक पुराण हैं। ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन और ब्रह्म पुराण राजस् पुराण हैं।[१]

---

१. प०पु०, (उत्तर काण्ड) २६३/८१-८४

गुणाधारित पुराणों के वर्गीकरण के सन्दर्भ में यह विश्लेषण भी है कि सतोगुण प्रधान पुराणों में विष्णु के माहात्म्य का वर्णन है। जिन पुराणों में ब्रह्मा की प्रधानता है उनमें ब्रह्मा का स्तवन किया गया है और उन्हें रजोगुण प्रधान पुराण मानते हैं। जो पुराण शिव के माहात्म्य का अथवा अग्नि देवता के माहात्म्य का वर्णन करते हैं और इन देवताओं का स्तवन करते हैं वे तमोगुण प्रधान पुराण कहे गये हैं।[१]

जो वर्गीकरण इन पुराणों में वर्णित विषयों के आधारों पर किया गया है उनकी एक पृथक् दृष्टि से किये गये वर्गीकरण में ऐतिहासिक तैर्थिक, साम्प्रदायिक और प्रक्षिप्तांश बहुल पुराणों का वर्गीकरण है। इन पुराणों में जिनमें ऐतिहासिक विषय वस्तु का विवेचन है उन्हें ऐतिहासिक पुराण कहा गया है। जैसे– गरुड़, अग्नि और नारद पुराण। जिन पुराणों में तीर्थों और व्रतों का वर्णन है वे तैर्थिक पुराण कहलाते हैं। जैसे पद्म पुराण, स्कन्द पुराण और भविष्य पुराण। लिङ्ग पुराण, वामन पुराण और मार्कण्डेय पुराण को इस विभाजन की दृष्टि से साम्प्रदायिक पुराण माना जाता है। ब्रह्मवैवर्त और भागवत पुराण प्रक्षिप्तांश बहुल पुराण हैं क्योंकि इनमें प्रक्षिप्तांशों की बहुलता है।[१]

---

१. पु.स., पृ.१६; कल्याण, पृ. ५५३

पुराणों में वर्णित विषयों का जब विवरण प्रस्तुत किया गया है तो उनमें यह देखा गया है कि वे पाँच लक्षण वाले होते हैं। इनके ये लक्षण सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर, और वंशानुचरित के रूप में कहे गये हैं। इसमें सर्ग का अभिप्राय ब्रह्मा की सृष्टि से है और ब्रह्मा के मानस पुत्रों द्वारा जो सृष्टि की गई है उसे प्रतिसर्ग कहा गया है। सूर्यवंश, चन्द्रवंश, अग्निवंश आदि का वर्णन इन पुराणों में किया गया है और इसी वर्णन को वंश कहा जाता है। सृष्टि गणना का जो स्वरूप है वह मन्वन्तर है और भिन्न-भिन्न वंशों में उत्पन्न हुए राजाओं के जन्म तथा मरण का परिचय वंशानुचरित है।[१]

इस सब के अतिरिक्त ब्रह्मा, विष्णु, लिङ्ग, शिव आदि को लक्ष्य करके इन पुराणों में इनका माहात्म्य और इनके गौरव का वर्णन है। मनुष्य के जीवन में क्या प्राप्तव्य है और वह इस सृष्टि में किस निमित्त से आया है इसका विचार प्रारम्भ काल से होता आया है। इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की विवेचना की गई है। जिसमें यह कहा गया है कि यही चारों पुरुषार्थ मनुष्य के जीवन में प्राप्तव्य हैं। इन चारों पुरुषार्थों का वर्णन पुराणों में किया गया है और इसके अतिरिक्त जो पञ्चलक्षण कहे गये हैं उनका वर्णन भी विस्तार से है।

---

१. धर्माश्च कामश्च मोक्षश्चैवात् कीर्त्यते।
सर्वेऽस्पि पुराणेषु तद् विरुद्धं च यत्।।
म.पु.(१), पृ० २१८, वि.पु. (१) ३६१

पुराणों की विषय वस्तु के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क किये गये हैं। इनमें यह कहा गया है कि पुराणों में जो विषय-वस्तु दी गई है उसमें किन्हीं-किन्हीं पुराणों में पञ्च लक्षणात्मक विषय वस्तु का समावेश कम मात्रा में किया गया है अथवा यह मत व्यक्त किया गया है कि कुछ पुराण ऐसे हैं जिनमें पञ्च लक्षणात्मक विषय के अतिरिक्त अन्य प्रकार की विषय वस्तु भी संकलित है। इस प्रकार के पुराणों में वायु पुराण, मत्स्य पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण के अतिरिक्त विष्णु पुराण भी सम्मिलित है।[१]

एक विद्वान् यह कहते हैं कि पुराणों में जिन पञ्च लक्षणात्मक विषयों का कथन किया गया है उसमें कहीं-कहीं तो इन विषयों का स्पर्श भी नहीं होता इसलिए यदि पुराणों का लक्षण किया जाये तो उन्हें वंश लक्षणात्मक पुराण कहा जाना चाहिए।[२]

इन विषयों के अतिरिक्त पुराणों में देव स्तुतियाँ जीवन का आचार-व्यवहार, नीति तथा दर्शन का वर्णन करना भी सम्भव हुआ है। पुराणों का दृष्टि कोण यह रहा है कि वे सामाजिक संस्कार के वाहक बने और ऐसी व्यवस्था का वर्णन करें जो सामाजिक संगठन को मजबूत कर सके। पुराणों ने जिस व्यवस्था का स्वरूप दिया है और विषय वस्तु के रूप में जो वर्णन किया है उसमें एक ओर देव रूप में व्यक्तियों की आस्था प्रस्फुटित हुई है तो दूसरी ओर अनेक प्रकार के आचार और व्यवहार से उनमें ऐसे संस्कार उत्पन्न हुए हैं जिन संस्कारों से व्यक्ति और समाज का लाभ हो सका है।[३]

---

१. पु.स., पृ. २०

२. कल्याण, पृ० ५५२; द.पृ. पं. ल., पृ० ६, ४६

३. पु. सं., पृ० २१

विषय सङ्केत :-

यद्यपि विष्णु पुराण अन्य पुराणों की अपेक्षा छोटा पुराण है तथापि पुराणों से सम्बन्धित जो पंच लक्षण इसमें दिए गए हैं उसका परिपालन इस पुराण में सम्पूर्ण रूप से किया गया है। इसी के साथ इसमे अध्यायों का विवेचन, सदाचार और धर्म का निरूपण तथा कलि धर्म के विषय में उपयोगी सामग्री दी गई है। इस पुराण में जो भी विषय उठाए गये हैं उन्हें एक उपयुक्त सीमा में बाँधना और अनावश्यक विस्तार से बचना इस पुराण की विशेषता है।

इसके अविर्भाव की कथा से यह पुराण प्रारम्भ हुआ है। जिसमें यह संकेत किया गया है कि महर्षि वशिष्ठ के पौत्र पाराशर जी को जब यह ज्ञात हुआ कि विश्वामित्र की प्रेरणा से राक्षसों के वध के लिए एक बहुत बड़ा यज्ञ किया है जिसमें गिरकर राक्षस मरने लगे तो यह देख वशिष्ठ जी ने उनसे कहा कि इसमें राक्षसों का कोई दोष नहीं है इसलिए तुम क्षमा करो क्योंकि क्षमा साधुओं का मुख्य लक्षण है। इस स्थिति में उन्होंने क्षमा किया और पराशर जी को पुलस्त्य ने पुराण संहिता की रचना करने का आदेश दिया। उसी के फलस्वरूप उन्होंने इसका प्रवचन मुनि मैत्रेय को किया।[१]

पुराण के इस प्रादुर्भाव के आख्यान के साथ ही सृष्टि के कल्पों का वर्णन इस पुराण में है और वहाँ पर यह बताया गया है कि यह वाराह कल्प है, भगवान् ने वाराह का रूप धारण करके इस डूबी हुई पृथ्वी को बाहर लाकर सृष्टि की रचना की थी। इसलिए सृष्टि ही ईश्वर से उत्पन्न हुई है और इसमें कितनी ही विविधताएँ क्यों न दिखाई दें यह स्पष्ट होता है।

---

१. वर्जयन्तिसदाक्रोधस्तात् मा तद्वषोभव! वि. पृ. (१), १/११७-११८

इसमें मूल में एक ही कारण है और वही जन्म, जीवन तथा मरण का हेतु है। यह अव्यक्त भी है, व्यक्त भी है, अरूपी और रूपी भी है।

प्रारम्भ के इस कथानक के उपक्रम के साथ ध्रुव आख्यान सुन्दर और शिक्षाप्रद आख्यान है। इस आख्यान में ध्रुव की तपस्या, उसकी कर्तव्यनिष्ठता और माता तथा पिता के प्रति उसका आदर भाव द्रष्टव्य है। ध्रुव का व्यक्तित्व ऐसा है जिसमें वह अपना अधिकार छिन जाने के बाद भी अपने भाई से किसी प्रकार द्वेष नहीं करता, बाद में वह सांसारिक वैभव और सम्पदा को नाशवान् मानकर आत्मिक उत्कर्ष का अभिलाषी होता है और तब प्रकृति और पुरूष को देखता हुआ यह जानता है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अंहकार ये सब प्रकृति के मूल हैं। जो इन सबका दृष्टा है वह इनसे परे है, वह इस संसार में है भी और नहीं भी।

ऐसा ही एक कथानक महाराज पृथु का है। ध्रुव विष्णु भक्त थे लेकिन उनके वंश में वेन नाम का एक राजा पैदा हुआ जो निरंकुश था और स्वयं को ईश्वर बताकर सभी के कर्तव्यों को प्रतिबन्धित करता था। अन्ततः उसके इस आचरण से अराजकता उत्पन्न हो गई और जीवन निर्वाह के अधिकांश साधन नष्ट हो गए। महाराज पृथु उसी से उत्पन्न हुये और उन्होंने प्रजा पालन की दृष्टि से सम्पूर्ण पृथ्वी को इस योग्य बनाया कि वह सभी के लिए जीवनदायिनी बन सके।

प्रह्लाद और हिरण्यकश्यपु का आख्यान अधर्म पर धर्म की विजय का आख्यान है। हिरण्यकश्यपु दमन की नीतियों में विश्वास करता है और अधर्म के पथ पर चलता है। उसके मन में भी यही इच्छा है कि सभी लोग उसे ईश्वर मानें और उसकी आज्ञा का अनुपालन करें। प्रहलाद ने इसके विपरीत आचरण किया और उस परमपिता की प्रार्थना में स्वयं को समर्पित किया जो सृष्टि का संचालक है। इसके लिए उसने अपने पिता के विरोध की भी परवाह नहीं की और अन्ततः भगवान् नृसिंह के सामने अपने साथ अधिकतम अन्याय करने वाले पिता के प्रति भी किसी तरह का विरोध नहीं किया। प्रहलाद ने चाहा कि अज्ञान के वशीभूत होकर उसके पिता ने जो अनर्थ किया है उससे वह मुक्त हो जाये और उसे अपने जवीन में तथा जीवनोत्तर काल में कष्ट न मिले।

इस पुराण में यम गीता का भी समावेश है। एक बार जब यमराज ने भगवान् के भक्तों को छोड़ देने का आदेश अपने दूत को दिया तो दूत ने भक्त का स्वरूप पूछा। इस पर यमराज ने कहा कि जो कोई मनुष्य अपने वर्ण धर्म पर स्थिर रहता है, अपने मित्रों और शत्रुओं के प्रति प्रेम का भाव रखता है, बल पूर्वक किसी के द्रव्य का अपहरण नहीं करता, किसी जीव की हिंसा नहीं करता उसको भगवान् का भक्त जानो। वहाँ पर भक्त के लक्षण देते हुये यह कहा गया है कि जो भक्त होता है वह प्राणी मात्र में भगवान् का निवास जानकर कभी-भी किसी प्राणी का अपकार नहीं करता। सभी की सेवा के लिए सदैव तैयार रहता है। ऐसा व्यक्ति ही भक्त होता है।

इस पुराण में प्राचीन काल के विविध राजाओं और राजवंशों का वृतान्त भी लिखा गया है। उसमें कलियुग में उत्पन्न होने वाले जिन राजाओं के चरित्र-चित्रण का संकेत है वह विचित्र और उपयोगी है। इस वर्णन में यह कहा गया है कि राजा का प्रथम कर्तव्य प्रजा का हित पालन करना है। जिस राजा के ऊपर प्रजा का दायित्व होता है उसका कर्तव्य है कि वह अपने सुख, स्वार्थ ओर लाभ की चिन्ता न करके अपनी सम्पूर्ण शक्ति और साधन को प्रजा के कल्याण में लगावे। वही सच्चा राजा होता है। जो इसके विपरीत आचरण करता है और किसी स्वार्थ वश प्रज़ा को पीड़ित करता है अथवा प्रजा को त्रास देता है तो वह राजा कलंकित राजा होता है। राजाओं के लिए भी वहाँ पर उपदेश है और यह कहा गया है कि ये कैसे मोहग्रस्त राजा हैं जो अपना घर जीतना चाहते हैं, सेवकों को जीतना चाहते हैं, पुरवासी और शत्रुओं को जीतना चाहते हैं। फिर इनके मन में यह इच्छा होती है कि सम्पूर्ण पृथ्वी मण्डल को जीतकर इसके एकछत्र शासक बनें। अपने क्षणिक जीवन में इतनी अधिक प्राप्ति की अपेक्षा इनके लिए विडम्बना ही कही जायेगी। इन राजाओं को चाहिए कि ये आत्मानुलोचन करें और अपनी आत्मा के विकास के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहें। जो राजा इस तरह से अपना जीवन जीते हैं वे ही कल्याण प्राप्ति के अधिकारी बनते हैं। ऐसे राजाओं का जीवन यशस्वी होता है और वे अखण्ड यश प्राप्त करके बहुत समय तक पृथ्वी पर शासन करने के अधिकारी होते हैं।

इस पुराण के उत्तरार्द्ध में कृष्ण चरित का वर्णन किया गया है यद्यपि अन्य महापुराणों और महाकाव्यों में श्रीकृष्ण के चरित का कथन है तथापि विष्णु पुराण में जिस रूप में श्रीकृष्ण के लोकोत्तर चरित्र का प्रतिपादन किया गया है वह अनुपमेय है। श्रीकृष्ण के चरित्र की यह विशेषता थी कि वह नर रूप में निरंकुश शासन सत्ता के विरुद्ध थे और इसलिए उन्होंने कंस का विरोध करने के साथ-साथ एक बहुत बड़े तात्कालिक सम्राट जरासन्ध का भी विनाश किया था। श्रीकृष्ण के चरित्र की यह विशेषता थी कि वे जन नायक थे और जहाँ भी जाते थे अथवा जहाँ भी रहते थे सामान्य जनता के प्रिय बन जाते थे। गोकुल, वृन्दावन और मथुरा में रहते हुये वे एक सामान्य व्यक्ति की भूमिका में रहे और सामान्य जन से मैत्रीपूर्ण व्यवहार करते रहे। इसके साथ ही साथ श्रीकृष्ण ने जिस राजनीति को स्थापित किया वह राजनीति भी ऐसी थी जिसमें वे निरंकुश शासकों के प्रति कठोरता का व्यवहार करते थे किन्तु कभी किसी प्रकार से उनका विकास नहीं होने देते थे। कौरवों और पाण्डवों के युद्ध में श्रीकृष्ण की राजनीति की यह विशेषता है कि उन्होंने अन्याय करने वालों का विरोध किया और न्याय का पक्ष लिया। इसके लिए वे यह भी कर सकते थे कि पाण्डवों के साथ खड़े होकर युद्ध में प्रवृत्त होते किन्तु ऐसा उन्होंने इसलिए नहीं किया जिससे वे एक पक्षीय न हो जायें। उनकी इच्छा मात्र इतनी थी कि कौरवों को उनके अपने कर्म की सजा मिल जाये और पाण्डव विजय प्राप्त करने के बाद भी निरंकुश न हो जायें। जो जिस स्थिति में रहने योग्य है वह उसी स्थिति में रहें।

इन सब विषयों के अतिरिक्त इस पुराण में कर्म और ज्ञान की महत्ता तथा भारत भूमि की विशेषता का भी वर्णन है। विष्णु पुराण में कहा गया है कि इस संसार के पदार्थों में अधिक ममत्त्व रखने से स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति, भूमि आदि की प्राप्ति करने से कभी भी सच्चा सुख प्राप्त नहीं होता। इसलिए जो अपना परम कल्याण चाहते हैं वे इन वस्तुओं में आसक्त न होवें और केवल अपना कर्तव्य रूप कर्म ही करें।

यह देश और यह भूमि ऐसी महत्वपूर्ण और महिमाशालिनी है कि पुराणकार इस पर मुग्ध हैं। वह लिखता है कि यह भारत भूमि अपना कर्म करने वाले के लिए जहाँ एक ओर स्वर्ग प्रदान करती है वहीं दूसरी ओर जो अनासक्त भाव से कर्म करता है उसे मुक्ति तक पहुँचाती है। यही एक ऐसी भूमि है जहाँ पर व्यक्ति पूरे मनोयोग से कर्म करता है और उन कर्मों के फलों में उसका कहीं भी अभिनिवेश नहीं होता। इसी भावना से व्यक्ति के जीवन में स्वर्ग और अपवर्ग का समन्वय हो सकता है। इस रूप में यह एक ऐसा पुराण है जो पुराण परम्परा में अमूल्य निधि है। इसमें जिस प्रकार से विषय-प्रस्तुति की गई है तथ्यों का निरूपण किया गया है, शैली को संयत और स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत किया गया है, भाषा का सौष्ठव निरूपित किया गया है उससे इस पुराण की गरिमा और अधिक बढ़ गई है और यह सभी पुराणों में महत्वपूर्ण पुराणों के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है।

विष्णु पुराण के कलेवर के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ हैं, फिर भी इस पुराण के सन्दर्भ में, इसके स्वरूप के वर्णन में जो विवरण प्राप्त हैं उसके अनुसार इसका विभाजन छह अंशों में हुआ है। इस पुराण में १२६ अध्याय सङ्कलित किये गये हैं। इस पुराण के कलेवर में कितनी श्लोक संख्या थी यह भी मत भिन्नता का विषय है। अधिकांश स्थलों पर यह कहा गया है कि विष्णु पुराण के कलेवर में तेईस हजार श्लोक थे किन्तु इस समय जो विष्णु पुराण प्राप्त है उसमें केवल सात हजार श्लोक प्राप्त हैं। इस विसंगति को दूर करने की दृष्टि से कई समालोचकों ने यह मत दिया है कि विष्णु धर्मोत्तर पुराण भी इसी पुराण का एक अंश है। इसमें नौ हजार श्लोक जोड़ देने पर सात हजार श्लोकों की संख्या कम रहती है। इस स्थिति में इस पुराण का वास्तविक कलेवर कितना था यह कहना कठिन है।

इसके जो छह अंश कहे गये हैं उनमें पहिले अंश में सृष्टि की उत्पत्ति, ध्रुव और प्रहलाद के चरित वर्णन मुख्य हैं, दूसरे अंश में लोकों का वर्णन है, तीसरे अंश में वेद शाखाओं का विस्तार और गृहस्थ धर्म का वर्णन किया गया है। इसका चौथा अंश एक प्रकार से राजाओं की वंशावली का वर्णन करने वाला है। इसमें इस पृथ्वी पर उत्पन्न हुए विभिन्न राजाओं का वर्णन विस्तार से और व्यवस्थित रूप से किया गया है। पाँचवे अंश में कृष्ण चरित तथा छठे अंश में प्रलय तथा मोक्ष का वर्णन है।

(ङ) विष्णु पुराण में व्यक्त नीतियाँ और आचार :-

विष्णु पुराण एक ऐसा पुराण है जिसमें विविध विषयों का संकलन किया गया है। इसमें यदि एक ओर पतन की स्थितियों का वर्णन है तो दूसरी ओर उत्थान और विकास का मार्ग भी प्रदर्शित है। मनुष्य के लिए नैतिकता क्या है, वह किस प्रकार से नैतिक मार्ग पर चलकर अपने जीवन को सञ्चाालित करे इसके अनेक सन्दर्भ इस पुराण में दिये गये हैं। इसलिए जो अनैतिक मार्ग है उसका निराकरण करते हुए नैतिक मार्ग की स्थापना का दर्शन दिया गया है।

मनुष्य के लिए सत् मार्ग पर चलना और सदाचरण का आधार लेना अवश्यम्भावी होता है। सदाचार की परिभाषा करते हुए यह कहा गया है कि सत्मार्ग पर चलने का अभिप्राय सहज होता है, दोष रहित को साधु कहते हैं। जो साधु पुरुष का आचरण करता है उस आचरण का नाम सदाचरण है।[१] एक दूसरा अभिप्राय यह दिया गया है कि विष्णु की भक्ति करना ही सदाचरण है। जो किसी शून्य स्थान में पड़े हुए स्वर्ण को देखकर अपने मन में उसके प्रति अभिनिवेश नहीं रखता उसे भगवत् भक्त मानना चाहिए। ऐसा व्यक्ति प्रशान्त, पुनीत, सहृदय तथा सभी के हित की बात करने वाला होता है।[२] नीति के रूप में सदाचरण की व्याख्या करते हुए यह भी निरूपित है कि कभी भी किसी स्थिति में व्यक्ति को अप्रिय भाषण नहीं करना चाहिये। इसी तरह से जो अप्रिय है किन्तु सत्य है उसे प्रिय बनाकर बोलने का प्रयत्न करना चाहिए।[३]

---

१. वि. पु. ३/११/३
२. वही, ३/७/२४
३. वही, ३/१२/४

मानवीय जीवन की यह विशेषता है कि इसे कर्म करने का अधिकार प्राप्त हुआ है। श्रीमद्भगवतगीता में अर्जुन को सम्बोधित करते हुये भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि संसार में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो बिना कर्म किये एक क्षण भी रह सके। कर्म करना सभी के लिए अनिवार्य है किन्तु इसी के साथ यह कथन भी है जो नैतिक दृष्टि से मान्य है, कि व्यक्ति को कर्म करते हुये भी निष्काम भाव से अपना जीवन जीना चाहिए, अर्थात् कर्म करते हुये कभी-भी उसे फल की आकांक्षा के बन्धन में नहीं बँधना चाहिए, इसी को निष्काम कर्म कहते हैं और इसी भाव से कोई भी व्यक्ति कर्तृत्व के अभिमान से बंधता नहीं है। यह नैतिक रूप से श्रेष्ठ आचरण है और ऐसा करने पर व्यक्ति भगवत् भक्ति प्राप्त करने के साथ-साथ मुक्ति प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है।[१]

मनुष्य अपने आप में शक्तिमान् बनने की इच्छा रखता है उसके मन यह इच्छा होती है कि वह बल, विद्या, शौर्य आदि से समन्वित होवे। इससे न केवल उसका आदर होता है अपितु उसमें आत्मबल की जागृति होती है। किन्तु यह सब मनुष्य को तभी प्राप्त होता है जब वह सद्गुणी होता है और उसमें सभी प्रकार के गुण होते हैं। जो दुर्गुणी होता हैं उसमें बल, शौर्य आदि नहीं होते और जिसमें बल तथा शौर्य नहीं होता वह कभी-भी आदर प्राप्त करने का अधिकारी नहीं बनता।[२] इसका अभिप्राय यह हुआ कि मनुष्य की शारीरिक अथवा मानसिक दुर्बलता उसे बुद्धिहीन बनाती है और उसमें जो मानवीय गुणों का सामर्थ्य है उसे क्षीण करती है।

---

१. वि. पु. १/१०/१८-१९

२. वही, १/६/३१

मनुष्य की नीति और आचार में धर्म का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। विष्णु पुराण में धर्म को लेकर भी स्पष्ट रूप से अपनी धारणा व्यक्त की गयी है। वहाँ पर धर्म के विषय में यह कहा गया है कि धर्म का आधार जहाँ एक ओर उपासना और भक्ति है वहीं पर धर्म का आधार मनुष्य के सत् कर्म भी हैं। एक स्थान पर इस पुराण में देवताओं और दैत्यों के विषय में कथानक देते हुये यह बताया गया है कि एक बार दैत्य धर्मपालक हो गये इससे देवता भय का अनुभव करने लगे क्योंकि इस स्थिति में देवताओं ने विचार किया कि यदि दैत्य धर्मपालक हो जायेंगे तो वे हमें पराजित कर देगें क्योंकि विजय का आधार धर्म ही होता है। इस स्थिति में देवताओं ने विष्णु से प्रार्थना की कि वे दैत्यों को धर्मविमुख कर दें। इस स्थिति में दैत्य देवताओं को पराजित नहीं कर सकेंगे।[१] इस कथानक का यह अभिप्राय हुआ कि मनुष्य के जीवन में विजय का आधार धर्म होता है। जो धर्म विमुख होता है वह कभी-भी विजय का अधिकारी नहीं होता। इसलिए धर्म नैतिक जीवन का मेरुदण्ड है। इस सबके अतिरिक्त वर्ण धर्म, आश्रम धर्म आदि के रूप में, उपासना-भक्ति और ज्ञान के रूप में इस पुराण में जो कहा गया है वह विभिन्न नीतियों और आचार-पालन के लिए उपादेय है।

पारिवारिक रूप में और सामाजिक रूप में विष्णु पुराण में जिस प्रकार के परिवार के तथा समाज के गठन की परिकल्पना की गई है वह भी नैतिक और आचारात्मक पृष्ठभूमि पर आधारित है और इसका संकेत विष्णु पुराण में यथानुरूप किया गया है।

---

१. वि. पु. २/१८/३६, ३/१८/२-११

तृतीय अध्याय

(विष्णु पुराण में लोकनीति एवम् आचार)

तृतीय अध्याय

(विष्णु पुराण में लोकनीति एवं आचार)

(क) विष्णु पुराण की सामाजिक व्यवस्था :-

पुराण परम्परा में विष्णु पुराण एक महत्त्व पूर्ण पुराण है। यद्यपि यह पुराण भगवान विष्णु को लक्ष्य बनाकर लिखा गया है और उन्हीं के यश का गायन मुख्य रूप से इसमें किया गया है किन्तु विष्णु पुराण के आचार्य ने जिस प्रकार से समाज को शिक्षित करना चाहा है और उसको प्रतिष्ठित बनाना चाहा है उसका संकेत भी इस पुराण में स्थान-स्थान पर किया गया है। ऋषि ने भगवान विष्णु के चरित्र के माध्यम से और अन्य राजाओं के व्यवहार के माध्यम से एक ऐसे समाज का दिशा निर्देश किया है जो समाज एक आदर्श समाज के रूप में प्रतिष्ठित हो सकता है।

पुराणकार की यह विशेषता है कि उन्होंने केवल तत्कालीन परिस्थितियों का ही चित्रण नहीं किया है अपितु अच्छे बुरे दोनों प्रकार के सामाजिक स्वरूप का विश्लेषण किया है। इस पुराण में पुराणकार ने विष्णु पुराणकालीन भारत वर्ष के समाज का वह दृश्य भी दिया है जो उस समय के सामाजिक पतन का हेतु हो सकता है। आचार्य ने इस सम्बन्ध में केवल यथार्थ का चित्रण नहीं किया अपितु उसका व्यवाहरिक समाधान भी दिया है। यदि उन्होंने मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियों के प्रगटी करण में कोई संकोच नहीं किया तो यह समाधान भी दिया कि वह कौन सा पथ है जिस पर चलकर व्यक्ति अपने जीवन को नैतिक पथ पर ले जा सकता है। इस पुराण की कथाओं में अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के स्वभाव वाले समर्थ राजाओं के जीवन का चित्रण है। किन्तु उनके जीवन का

जो परिणाम घटित होता है उससे यही संकेत जाता है कि सामाजिक व्यक्ति को किस प्रकार का आचरण करना चाहिए। उस समय के समाज में यदि राजा वेन जैसे दुष्ट राजाओं का चरित्र है और कंश जैसे जघन्य राजाओं का इतिहास वर्णन है तो दूसरी ओर ऐसे राजाओं का चरित्र भी वर्णित है जो प्रजा के हित में अपना सर्वस्व समर्पित कर देते हैं। ऋर्षि ने कलिकाल के वर्णन में न केवल राजाओं के दोष पूर्ण व्यवहार का उल्लेख किया है अपितु प्रजा के द्वारा किए जाने वाले अन्यायपूर्ण कार्यों का उल्लेख भी किया है। कंश ऐसा अत्याचारी राजा कहा गया है जो राज्य की स्थिरता के लिए छोटे-छोटे बालकों की हत्या करने में भी संकोच नहीं करता है।

इस स्थिति में इस पुराण में भगवान श्रीकृष्ण के अवतार का वर्णन है जो सामाजिक विषमताओं के लिए कार्य करते हैं और एक सामान्य कुल में जन्म लेने के बाद भी कंश जैसे अन्यायी का वध करते हैं। उस समय की सामाजिक व्यवस्था कैसी थी इसका वर्णन इस पुराण में वर्ण एवं आश्रम व्यवस्था के माध्यम से किया गया है। तब चारों वर्णों का संकेत इस पुराण में हैं और इन वर्णों से यह अपेक्षा की गई है कि वे उन कर्तव्यों का भली-भाँति पालन करें जिनका पालन करने से उनका व्यक्तिगत जीवन सुखी और समृद्ध होता है। ऐसा करने से समाज के सभी लोग अपने अपने कर्तव्यों का पालन करके अपना जीवन सुख पूर्वक चला सकेंगे और समाज की व्यवस्था ठीक ढंग से चलती रहेगी।

वर्ण व्यवस्थाः-

इस देश के ऋषि प्राचीन समय से ही सामाजिक व्यवस्था को ले कर अपना दृष्टिकोण समाज के सामने रखते रहे हैं। इस सम्बन्ध में जब हम प्राचीन भारतीय व्यवस्था की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हम यह देखते हैं कि वैदिक काल में भी किसी न किसी प्रकार से वर्ण व्यवस्था की स्थिति प्रारम्भ हो चुकी थी। ऋग्वेदऔर यजुर्वेद का वह मंत्र बहुत अधिक प्रसिद्ध है जिसमें यह कहा गया है कि भगवान के मुख, वाहु, उरु तथा पदों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ओर शूद्र उत्पन्न हुये।[१]

इसी प्रकार से उपनिषदें जब सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करती हैं तो वे यह संकेत करती हैं कि ब्रह्म इस जगत का आदि मूलाधार है। वह जब अपने अकेलेपन से ऊबकर बहुत होना चाहता है तब वह सम्पूर्ण जगत की सृष्टि करता है। अथवा स्वयं ही अकेले रूपों में प्रकट हो जाता है।[२] उसके इस स्वरूप प्रकटन से ही चारों वर्णों की उत्पत्ति हो जाती है और तभी से हम यह जान लेते हैं कि उपनिषद् काल में भी चारों वर्णों के संकेत प्राप्त हैं। आचार्य मनु ने वैदिक परम्परा और उपनिषद् कालिक परम्परा को लगभग उसी रूप में स्वीकार किया है जिस रूप में प्राचीन समय में वर्ण व्यवस्था के संकेत थे।[३] इस रूप में प्राचीन समय से ही वर्ण व्यवस्था की स्थिति संकेतित है।

---

१. ऋक्. १०/९०/१२, यजु. ३१/११, २६/२
२. वृह. १/४/११
३. म. स्मृ., पृ.१७

ब्राह्मणः-

विष्णु पुराण में वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से संकेत किया गया है, जब श्री मैत्रेय ने महर्षि पराशर से यह पूछा कि महाराज ब्रह्मा जी ने देवर्षि, पितृ, दानव, मनुष्य, तिर्यक, पृथ्वी और आकाश तथा स्थल और जल में रहनेवाले प्राणियों की रचना कैसे की और गुणों का स्वरूप किस प्रकार निर्धारित किया- इसे समझाकर कहिए, तब इसके उत्तर में महर्षि पराशर ने छह प्रकार की सृष्टियों का वर्णन किया, जिनमें प्राणि सृष्टि का वर्णन करते हुये उन्होंने कहा कि द्विज श्रेष्ठ जगतकर्ता ब्रह्मा जी ने सबसे पहले सत्त्व गुण युक्त प्राणियों को जन्म दिया। बाद में रजोगुण युक्त और तमोगुण युक्त सृष्टि हुई। इस सृष्टि में ब्राह्मण उत्पन्न हुये, क्षत्रिय उत्पन्न हुये, वैश्य उत्पन्न हुये और शूद्र उत्पन्न हुये। महर्षि पराशर ने कहा कि हे ब्राह्मण श्रेष्ठ ! जो ब्रहमा जी के मुख से उत्पन्न हुये वे ब्राह्मण कहे गये। अर्थात् ब्राह्मणों का प्रादुर्भाव ब्रह्मा जी के मुख से हुआ। इसी प्रकार से जो वक्षस्थल से उत्पन्न हुये वे उस समय क्षत्रिय कहे गये। उरुओं एवं पैरों से उत्पन्न होने वाले क्रमशः वैश्य एवं शूद्र कहलायें।[1]

---

१. सत्याभिध्यायिन पूर्व सिसृक्षोर्ब्रह्मणो जगत।
अजायन्त द्विजश्रेष्ठ सत्वोद्रिक्ता मुखात्प्रजाः ॥
वक्षसो राजसोद्रिक्तातता वै ब्रहमणोऽभवनः ।
रजासा तमसा चैवं समुत्प्रिक्तास्तथोद्यतः ॥
\- - - - - - - - -
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च द्विजसत्तम् ।
पादोरुवक्षःस्यतो मुखतश्च समुद्गताः ॥ वि. पु. (१), पृ. सं. ७८-७९

इन चारों वर्णों में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता और ज्येष्ठता प्राचीनकाल से स्वीकार की गई है। ऋग्वेद में एक स्थान पर यह कहा गया है कि जो राजा सदा सर्वदा ब्राह्मणों को दान देता है, उनका आदर करता है, सदा उन्हें सन्तुष्ट रखता है वह प्रतिष्ठा प्राप्त करने का अधिकारी होता है।[1] इसी तरह से एक स्थान पर ब्राह्मणों के लिए देवताओं की कल्पना की गई है और यह निरूपित किया है कि ब्राह्मण ऐसे देवता हैं, जिनका दर्शन प्रत्यक्ष रूप से किया जा सकता हैं।[2] ब्राह्मणों के सम्बन्ध में अनेक स्थानों पर उनके आख्यान का कथन करने वाले सन्दर्भ प्राप्त हैं जिनमें यह कहा गया है कि वे समाज से अर्चा, दान, अजेयता और अबध्यता प्राप्त करते हैं। समाज उन्हें यह इसलिए प्रदान करता है क्योंकि उनमें वह ब्राह्मण्य, पवित्र आचारण, यज्ञ तथा लोक पूजा के भाव देखता हैं।[3] उपनिषदें अनेक स्थानों पर ब्राह्मणों की ज्येष्ठता ओर श्रेष्ठता को लेकर अपना मन्तव्य व्यक्त करती हैं। इसलिए एक उपनिषद् यह कहती है कि ब्राह्मण को अक्षर ज्ञान होवे और वह विद्या के माध्यम से प्रतिष्ठित होवे।[4] ब्राह्मण के आत्मबल के प्रशंसा में एक उपनिषद् ने यह कहा है कि वह ब्रह्म ज्ञान के बल से बली होता है और कभी भी किसी से डरता नहीं हैं।

---

१. ऋक्. ४/५०/९
२. श. ब्रा. ११/५/७/१
३. वृह. ३/१/३
४. ऐ. उ., पृ. ९२

विष्णु पुराण में ब्राह्मण वर्ण के कर्तव्यों का विधान लिखा गया है। इसमें यह संकेत है कि ब्राह्मण के लिए यह उचित है कि वह दान करें, विविध यज्ञों का सम्पादन करता हुआ देवताओं का यजन करें, निरन्तर स्वाध्याय करता रहे, नित्य स्नान एवं तर्पण करता हुआ अग्न्याधान के माध्यम से पूजन करें और इस प्रकार से उसके लिए जो कर्तव्य कहे गये हैं उनका पालन करें। ब्राह्मण की वृत्ति के विषय में यह संकेत भी है कि वह अपनी वृत्ति के अनुकूल यज्ञ करावे, शिक्षा देवे और सदा सर्वदा ऐसे साधन का संचय करे जो न्याय के द्वारा उपार्जित किया गया हो। अर्थात् ब्राह्मण के लिए जीविका चलाने के लिए यह स्पष्ट निर्देश है कि वह उसी द्रव्य से अपनी जीविका का संचालन करे जो द्रव्य उसने न्याय के अनुकूल प्राप्त किया हो। इसके साथ ही वहाँ पर यह निर्देश है कि ब्राह्मण कभी किसी का अहित चिन्तन न करें और सदा सर्वदा दूसरों के हित में तत्पर रहे। वह सभी प्राणियों का हित चिन्तन करे क्योंकि यह उसका परम धर्म है। इसी तरह ब्राह्मण दूसरे के धन और स्त्री में अपनी प्रवृत्ति न करें।[1]

---

१. ब्राह्मणक्षत्रियवंशों.................................

\- - - - - - -

दान दद्याद्यजेद्देवान्यज्ञस्वाध्यतत्पर: ।
नित्योदकी भवेद्विप्र: कुर्याच्चाग्निपरिग्रहम् ।
वृत्यर्थ याजयेच्चान्यानन्यनध्यापयेत्तथा ।
कुर्यात प्रतिग्रहदानं शुक्लार्थनन्यायतो द्विज: ।
सर्व भूतहितं कुर्यान्नाहितं कस्यचिद् द्विज: ।
मैत्री समस्तभूतेषु ब्राह्मणस्योत्तम धनम् ॥ वि. पु. (१) पृ. ४०३

क्षत्रिय :-

ब्राह्मण के पश्चात् भारत की प्राचीन परम्परा में क्षत्रिय का महत्व स्वीकर किया गया है। क्षत्रिय वर्ण का संकेत जहाँ वैदिक परम्परा में हैं वहीं पर उपनिषद् परम्परा में यह कहा गया है कि ब्रहम ने जब विभूतियुक्त कर्म करने की इच्छा की तो इसके लिए उसने क्षत्रिय वर्ण की उत्पत्ति की। यद्यपि क्षत्रिय ब्राह्मण के अनुगामी हैं तथापि राजसूय यज्ञ में यह विधान दिया गया है कि ब्राह्मण क्षत्रिय के आसन से नीचे बैठ कर उसकी उपासना करते हैं और इसी रूप में वे ब्रह्म की कल्पना करते हैं।[1]

एक अन्य सन्दर्भ में यह लिखा विवरण आया है कि जिस प्रकार से रथ की नाभि में अरे लगे रहते हैं उसी प्रकार से ब्राह्मण और क्षत्रिय में चारों वेद अवस्थित हैं।[2] इसका अभिप्राय यह हुआ कि जिस प्रकार से तब ब्राह्मण का महत्त्व था उसी प्रकार क्षत्रिय भी महत्त्वशील वर्ण था। राजा जनक जो क्षत्रिय वर्ण के थे उन्होंने अपने दरबार में ज्ञान की प्राप्ति के रूप में याज्ञवल्क्य को गाएँ देने का प्रस्ताव किया था। ऋषि रैक्व का आख्यान भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है जिससे यह संकेत मिलता है कि प्राचीन समय में क्षत्रियगण प्रायः दान देकर अपनी प्रतिष्ठा प्राप्त करते थे।[3]

---

१. **ब्राह्मणाः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये...........। बृह. १/४/११**

२. **प्र. उ., पृ. ३६, हि. सं., पृ. ११२**

३. **छान्दो. ४/२/४**

विष्णु पुराण में भी वर्ण पम्परा के क्रम में क्षत्रिय वर्ण का कथन किया गया हैं। क्षत्रिय के लिए वहाँ पर यह कहा गया है कि वह आवश्यक रूप से दान देवें। और अनेक प्रकार के यज्ञों का सम्पादन करावें। इसके साथ ही क्षत्रिय का यह कर्तव्य भी है कि वह निरन्तर अध्ययनशील बना रहे। प्रारम्भ से ही क्षत्रिय के लिए यह विधान किया गया है कि वह अपनी आजीविका के लिए शस्त्र धारण करें किन्तु उसके साथ की साथ यह विधान भी है कि उसके द्वारा धारण किये गये शस्त्रास्त्रों से किसी को कष्ट न हो, अपितु उनसे वह पृथ्वी का परिपालन करे अर्थात् जो रक्षणीय है, राजा रूप में क्षत्रिय शस्त्र धारण करता हुआ उनकी रक्षा करें। वहाँ पर यह कहा गया है कि इस पृथ्वी पर जो यज्ञादि कर्म सम्पादित होते हैं उनका अंश राजा को मिलता है। इसलिए जो राजा दुष्ट जनों को दण्ड देता है और साधुजनों का पालन करता है, वस्तुतः वही राजा तथा क्षत्रिय कहलाने योग्य होता है। विष्णु पुराणकार का यह मत है कि क्षत्रिय राजा अपने ऐसे ही कर्मों से जिन लोकों की प्राप्ति करना चाहता है उनकी प्राप्ति कर लेता हैं।[1]

---

१. दानं दद्यात् द्विजातेभ्यो द्विजेभ्यः क्षत्रियोऽपि वा।
यजेच्च विविधैर्यज्ञैरधीत च पार्थिवः ॥
शस्त्राजीवो महीरक्षा प्रवरा तस्य च जीविका।
तत्रापि प्रथमः कल्पः पृथिवीपरिपालनम् ॥
धरित्रीपालनेनैवं कृतकृत्याः नराधिपाः।
भवन्ति नृपतेरंशा यतो यज्ञादिकर्मणाम् ॥
दुष्टानां शासनाद्राजा शिष्टानां परिपालनात् ॥
वि. पु. (१), पृ. ४०३-४०४

वैश्य :-

छान्दोग्योपनिषद् के एक सन्दर्भ में इस प्रकार का वर्णन आया है कि ब्रह्म को जब सृष्टि के विस्तार की आवश्यकता हुई विश् की उत्पत्ति की। उपनिषद् के इस सन्दर्भ में आचार्य शंकर ने अपनी व्याख्या में यह लिखा है कि वसु, रुद्र और विश्वेदेवों की गणना वैश्यों में की जाती है क्योंकि ये देवता धनोपार्जन के देवता हैं।[1] इसका अभिप्राय यह हुआ है कि वैश्य भी ब्रह्म से उत्पन्न हैं और धनरक्षक वर्ण हैं। पुराणों में विशेषता विष्णु पुराण में ब्राह्मण और क्षत्रियों की भाँति ही वैश्य के लिए भी यह लिखा गया है कि वह अध्ययन करे, यज्ञ करावे, दान देवें और जो उसके लिए नित्य नैमत्तिक क्रियायें निर्धारित हैं उनका पालन करें। पुराणकार ने वैश्य के लिए जिन कर्मों का वर्णन किया है अर्थात् उसके लिए अजीविका के साधन जो कहे हैं उनमें यह कहा गया है कि वह कृषि कार्य करे, पशुओं का पालन करें और व्यापार के माध्यम से अपनी जीविका संचालित करें।[2] इस रूप में पुराणकार ने उसी परम्परा का अनुसरण किया है जो परम्परा स्मृतियों में अथवा अन्य स्थानों में कही गई हैं। मनु स्मृतिकार ने वैश्य के लिए इसी प्रकार के कर्तव्यों का विधान किया है जिसमें उन्हें 'कुसीद' अर्थात् ब्याज लेने की भी व्यवस्था हो।[3]

---

१. छान्दो., पृ. ५२९

२. पाशुपाल्यं च वाणिज्यं कृषि च मनुजेश्वर।
वैश्याय जीविकाय, ब्रहमा दयो लोक पितामहः ॥
तस्याप्यध्ययनं यज्ञो दानं धर्मश्च शस्यते।
नित्यनैमित्तिकादीनां अनुष्ठानञ्च कर्मणाम् ॥ वि. पु. (१), पृ. ४०४

३. म. स्मृ., २/९०

शूद्र :-

शूद्र वर्ण का उल्लेख भी अन्य वर्णों की तरह प्राचीन समय से ही किया जाने लगा था। शूद्रों के देवता के रूप में पूषा देवता का उल्लेख किया जाने लगा है। जो सभी का पोषण किये जाने के कारण पूषा कहा गया है। इस देवता की पूजा इसलिए कही गई है, क्योंकि यह अपनी शक्ति से सभी का पोषण करता है।[1] आचार्य शंकर ने एक स्थान पर शूद्र का परिचय देते हुए लिखा है कि शूद्र जो ब्राह्मणी में उत्पन्न हुआ होता है वह चाण्डाल पद से अभिहित है।[2]

विष्णु पुराणकार ने शूद्र के विषय में यह लिखा है कि उसके लिए प्रमुख अजीविका यह है कि वह द्विजातियों के अनुकूल कर्म करें अर्थात् वह अपने द्वारा इस प्रकार के कर्म करें जिनसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का हित सम्पादित हो। यही उसकी अजीविका का आधार है। इसके अतिरिक्त इस पुराण में यह भी लिखा है कि शूद्र अपनी जीविका संचालित करने के लिए अनेक वस्तुओं का क्रय-विक्रय कर सकता है और कारीगरी करके अपनी जीविका चला सकता है। इस रूप में शूद्र के लिए अन्य जो भी कार्य हैं वे तो उनकी जीविका संचालित करें ही, मुख्य रूप से उसका कर्म है कि वह त्रिवर्ण की सेवा करे।[3]

---

१. वृ. १/४/१२

२. ब्रहम. ४/३/३२ परशांकर भाष्य

३. द्विजातिसंसृतंकर्म तादृर्थ्य तेन पोषणम्।
क्रयविक्रयजैर्वापि धनै: भारुद्रभवेन वा ॥
शूद्रस्य संतति: शौचं सेवा स्वाभिन्य मायया।
अमन्त्रयो...............................। वि. पु. (१), पृ. ४०४

यहाँ पर यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि विष्णु पुराणकार ने शूद्र के लिए भी उन कार्यों के करने का संकेत किया है जो कार्य त्रिवर्ण द्वारा किये जाते थे। महर्षि ने लिखा है कि शूद्र को भी दान देना चाहिए। पाक यज्ञों का अनुष्ठान करना चाहिए, पितरों का श्राद्ध करना चाहिए और अपने आश्रितों के पालन के लिए अन्य वर्णों से धर्म ग्रहण करते हुए ऋतु काल में ही भार्या का संगम करना चाहिए।[1] यहाँ पर यह उल्लेख करना संगत होगा कि महर्षि व्यास ने वर्णाश्रम धर्म का पालन करने वाले को ही भगवान विष्णु की आराधना का अधिकारी माना है और उन्होंने यह लिखा है कि जो अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन नहीं करता भगवान विष्णु की प्रसन्नता वह प्राप्त नहीं करता है। वे लिखते हैं कि यज्ञकर्ता पुरुष उन्हीं भगवान का यजन करता है। जप करने वाला उन्हीं का जप करता है और जो दूसरे की हिंसा करता है वह भगवान विष्णु की ही हिंसा करता है क्योंकि वे ही सर्वत्र व्याप्त हैं। इसके लिए पुराणकार यह सदुपदेश करते हैं कि प्रत्येक पुरुष को सदाचार का पालन करते हुए, अपने वर्ण के अनुरूप आचरण करते हुए जर्नादन की उपासना करनी चाहिए। वर्णाश्रम धर्म के पालन के

---

१. दानं च दद्यात् शूद्रोऽपि पाकयज्ञै यजेत् च।
पित्रयादिकं च तत्सर्व शूद्रः कुर्वीत तत्र वै।
भृत्यादिभरणार्थं सर्वेषां च परिग्रहः।
ऋतुकाभिगमनं स्वदारेषु महीपतिः। वि. पु., पृ. ४०५

संदर्भ में विष्णु पुराण में यह मन्तव्य व्यक्त किया गया है कि जो भी कोई अपने लिए निर्धारित वर्ण धर्म का पालन करता है वह एक प्रकार से विष्णु की ही आराधना करता है। अपने वर्ण के लिए निर्धारित कर्तव्य करने के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा मार्ग नहीं है, जिसमें विष्णु की आराधना हो सके। पुराणकार ने अपना यह मन्तव्य प्रगट किया है कि जो किसी की निन्दा नहीं करता, किसी की हिंसा नहीं करता और मिथ्याभाषण नहीं करता तथा किसी के भी प्रति खेदजनक वाक्य नहीं कहता तो भगवान केशव सदा सर्वदा उससे प्रसन्न रहते हैं। इसी प्रकार से यह कहा गया है कि जो व्यक्ति किसी की स्त्री पर कुदृष्टि नहीं रखता और न दूसरे के धन की ओर लोभ दृष्टि से देखता है, वह सदा सर्वदा केशव की प्रसन्नता का अधिकारी होता है।

इसी प्रकार से विष्णु पुराणकार ने विस्तार से वहाँ पर यह लिखा है कि जो प्राणी सभी के हित का चिन्तन करता है और सभी के प्रति अपनी सन्तान जैसा भाव रखता है भगवान केशव उस पर प्रसन्न होते हैं।[1]

---

१. तस्मात् सदाचारवता पुरुषेण जनार्दनः।
आराधयते स्ववर्णोक्त धर्मानुष्ठानकारिणा।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्च पृथ्वीपते।
स्वधर्मतत्परो विष्णुमाराधयति नान्यथा।
परापवाद पैशुन्यमनृतं च न भाषते।
अनयोद्वेगकरं वापि तोष्यते तेन केशवः।
\- - - - - - -
यस्य रागादिदोषेण च दुष्ट नृप मानसम्।
विशुद्धचेतसा विष्णुस्तोष्यते तेन सर्वदा।
\- - - - - - -
वर्णाश्रमेषु ये धर्माः ....। वि. पु. (१), पृ. ४०१-४०२

आश्रम व्यवस्था

ब्रह्मचर्य आश्रमः-

विष्णु पुराण में जिस प्रकार से वर्णों का विवरण दिया गया है और उनके कर्तव्य का आख्यान किया गया है। उसी तरह से इस पुराण में आश्रमों के सम्बन्ध में विवरण प्रस्तुत किया गया है। यह पुराण ब्रह्मचर्य आश्रम का संकेत करता हुआ यह लिखता है कि बालक को उपनयन संस्कार के पश्चात् वेदाध्ययन करके ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए और ब्रह्मचर्य की अवस्था में गुरूगृह में निवास करना चाहिए। गुरु आश्रम में निवास करते हुये वह पवित्रता का आचरण करे और सदाचार पूर्वक रहता हुआ वेदाध्ययन करे। ब्रह्मचारी के लिए यह व्यवस्था की गई है कि वह ऐसा आचरण न करे जो गुरु के विरुद्ध हो। गुरु का अनुगमन करने के लिए उसे यहाँ तक निर्देश है कि जब गुरु चलें तब शिष्य उनके पीछे चलें। जब गुरु खड़े हो जायें तब वह उनका आदर करता हुआ खड़ा हो जाये। गुरु की आज्ञा प्राप्त करके वह बैठे और जब उनकी आज्ञा मिले तब भिक्षा करने के लिए जाये। वह यथा समय सावधान होकर गुरु पूजन के लिए सामग्री इकट्ठी कर दे अर्थात् पुष्प, जल और समिधाओं की व्यवस्थाएँ आचार्य के लिए करे। इस प्रकार से वह अपनी विद्या प्राप्त करने के पश्चात् गुरु दक्षिणा देकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे।[1]

---

१. बालः कृतोपनयना वेदाहरण तत्परः।
गुरुगेहे वसेद्भूतः ब्रहमचारी समाहितः ॥
\- - - - - - -
गृहीत गुह्यवेदश्च ततोऽनुश्रमवाप्य च।
गार्हस्थ्यमाविशेत्प्राज्ञो निष्पन्नगुरुनिष्कृतिः ॥

गृहस्थ आश्रमः-

आश्रमों में गृहस्थ आश्रम यद्यपि दूसरे नम्बर पर है तथापि इसका महत्व बहुत अधिक है। इसका कारण यह है कि चाहे ब्रह्मचारी हो चाहे वानप्रस्थ हो और चाहे संन्यासी हो, सभी को अपना जीवन चलाने को और आहार प्राप्त करने के लिए अन्ततः गृहस्थ आश्रम में ही जाना पड़ता है। प्रसिद्ध कवि कालिदास ने अपने नाटक अभिज्ञानशाकुन्तलम् में लिखा है कि गृहस्थ आश्रम के अतिरिक्त अन्य तीनों आश्रमों के द्वारा गृहस्थ आश्रम का आश्रय लिए जाने के कारण यह महनीय आश्रम है। स्मृतियों में भी इसी प्रकार का संकेत है जिसमें यह कथन है कि जैसे- सभी नदी नद अपने आश्रय के लिए सागर के पास जाते हैं, उसी तरह से सभी अन्य आश्रम अपनी स्थिति के लिए गृहस्थाश्रम का आश्रय लेते हैं।[1]

विष्णु पुराणकार ने गृहस्थ आश्रम के स्वरूप के निरूपण में उसी परम्परा का उल्लेख किया है जो पहले से चली आ रही थी और जिसमें यह कहा गया है कि ब्रहमचारी अपनी विद्या को समाप्त करके विधिपूर्वक अपना जीवन व्ययीत करे। इसी दृष्टि से विष्णु पुराण में लिखा गया है कि सम्पूर्ण विद्या अध्ययन के बाद किसी योग्य कन्या से पाणिग्रहण संस्कार करके जीविका प्राप्त करे।[2]

---

१. अ. शा. २/१२, म. स्मृ. ६/९०

२. विधिनावाप्तदारस्तु धनं प्राप्य स्वकर्मणा।
गृहस्थकार्यमुद्दिश्च कुर्याद् भूपाल शक्तितः।
वि. पु. (१), पृ. ४०७, ब्र. वै. (ब्र. ख.) २४/९, कू. पु., पृ. १९

महर्षि वेदव्यास ने गृहस्थाश्रम के लिए विस्तार से नियम लिखे हैं। उन्होंने लिखा है कि गृहस्थ को चाहिए कि वह पिण्डदान आदि कर्मों से पितरों को संतुष्ट करे, यज्ञ आदि के अनुष्ठान से देवताओं को संतुष्ट करे, अन्न दान देकर अतिथियों को संतुष्ट करे, अपने स्वाध्याय से ऋषियों को संतुष्ट करे, पुत्रोत्पत्ति से प्रजापति को संतुष्ट करे, बलि देकर भूतों को संतुष्ट करे और अपने वात्सल्य भाव से विश्व को संतुष्ट करें। महर्षि ने यह लिखा है कि ब्राह्मणगण तीर्थाटन के लिए और विद्या अध्ययन के लिए निरन्तर भ्रमणशील रहते हैं। इनका अपना कोई आश्रय नहीं होता इसलिए ये गृहस्थ के द्वार पर जाकर अपने भरण-पोषण की कामना करते हैं। इसलिए गृहस्थ आश्रम वासियों का यह कर्तव्य है कि द्वार पर आये हुये अतिथि का प्रियवचन कहकर स्वागत करें और कभी भी उन्हें अपने द्वार से निराश्रित न जाने दें। वे यह लिखते हैं कि गृहस्थ का यह धर्म है कि उस समय जो उसका सामर्थ्य हो उसके अनुरूप उन्हें भोजन आदि देकर तृप्त करें। इसी से गृहस्थ आश्रम श्रेष्ठ आश्रम हैं।[1]

---

१. पिण्डदानेन पितृन यज्ञैर्देवास्तथातिथीन्।
अन्नैर्भुञ्जीश्च स्वाध्यायैयत्येन प्रजापतिम्॥
भूतानि बलिभिश्चैव वात्सल्येनाखिलं जगत्॥

\- \- \- \- \- \- \-

भिक्षाधुजश्च ये केचित् परिब्राजोब्रहमचारिणः।
तेऽप्यत्र प्रतिष्ठन्ते गार्हस्थ्यं तेन वै परम्॥

वि. पु. (१), पृ. ४०७, शु. नी. ४/४/२

वानप्रस्थ आश्रमः-

प्राचीन समय में मनुष्य के जीवन का यह तृतीय आश्रम होता था। इस आश्रम के विषय में यह कहा गया है कि जो अपने जीवन में कठोर नियमों का पालन करते हुए वन में निवास करते हैं, वे वानप्रस्थी कहे जाते हैं।[१] वैदिक परम्परा और उपनिषद् कालिक परम्परा में भी वानप्रस्थ आश्रम के लिए संकेत प्राप्त होते हैं। वहाँ पर अरण्यवासियों के लिए, जो विद्वान् थे और भिक्षाचरण करके अपने जीवन का निर्वाह करते थे उन्हें तपस्वी के रूप में जाना जाता था।[२]

इसी तरह से प्राचीन भारतीय वाङ्मय में धर्म शास्त्रों पर अपनी समालोचना देने वाले एक प्रसिद्ध विद्वान् ने यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि तब सम्भवतः वानप्रस्थ आश्रम के लिए वैखानस शब्द का प्रयोग होता था। कवि कालिदास ने भी इस शब्द का प्रयोग तपस्वियों के लिए किया है।[३]

विष्णु पुराण में यह कहा गया है कि गृहस्थ धर्म में रह करके जब उसका पालन करते हुए अवस्था ढ़ल जाए तब अपनी स्त्री को साथ लेकर अथवा उसके भरण-पोषण का दायित्व पुत्रों को सौंपकर वन में प्रस्थान करे। वहाँ पर वह फल, मूल आदि का भोजन करे, जटायें रखायें, भूमि पर शयन करें, अतिथि सेवा में वहाँ पर भी तत्पर रहें और इस प्रकार से अपना समय व्ययीत करें।[४]

---

१. या. स्मृ. ३/४५ पर मिताक्षरा।

२. मु. उ. १/२/११

३. ध. इ. (१), पृ. ४८२, अ. शा. द्रष्टव्य, पृ. १९५

४. वयः परिणतो राजन् कृतकृत्योंगृहाश्रमः।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत सहैव वा॥
पर्णमूलफलाहारः केशश्मश्रु जटाधरः।
भूमिशायी भवेत् तत्र मुनिसर्वातिथिर्नृप॥ वि. पु. (१), पृ. ४०९

महर्षि वेदव्यास यह लिखते हैं कि वानप्रस्थ आश्रम निवासी को चाहिए कि वह वहाँ पर रहकर देवताओं का पूजन करता रहा, हवन करता रहे, अतिथि सत्कार में निरत रहे, भिक्षा के द्वारा अपनी जीविका चलाता रहे। वे वानप्रस्थ आश्रम निवासी से तपस्या करने की अपेक्षा करते हैं और यह लिखते हैं कि शीतकाल में शीतलता को सहन करना उष्ण काल में उष्णता को सहन करना भी उसकी तपस्या ही है। इस रूप में वानप्रस्थ आश्रम में निवास करता हुआ जो अपने सभी कार्य पूर्ण करता है, वह अपने सभी दोषों को भस्म कर डालता है।[1]

संन्यास आश्रमः-

वैदिक परम्परा में संन्यास आश्रम के लिए कोई स्पष्ट संकेत नहीं है। वहाँ पर इस संबन्ध में लगभग कुछ नहीं कहा गया है। उपनिषद् परम्परा में अवश्य ही यह कहा गया है कि कोई भी परिव्राजक तप और व्रत का पालन करके अमरता पा लेता है।[2] एक अन्य उपनिषद् में आचार्य शंकर ने भी चतुर्थ आश्रम के रूप में कुछ संकेत किया है।[3] विष्णु पुराण में इस आश्रम के लिए ऋषि ने सम्बोधित करते हुए यह कहा है कि अब मैं चतुर्थ आश्रम का वर्णन करता हूँ।

---

१. देवताभ्यर्चनं होमस्सर्वाभ्यागत पूजनम्।
भिक्षा बलिप्रदानं च शस्त मस्य नरेश्वर।
\- - - - - - -
यस्त्वंतां नियश्चर्या वानप्रस्थाश्चरेन्मुनिः।
स दहत्यग्निवद्दोषञ्जल्लोकांश्च शाश्वतान्॥ वि. पु. (१), पृ. ४०९

२. छा. २/३३/१

३. श्वे. उ. शां. भा., पृ. २१६

इस कथन से चतुर्थ आश्रम के रूप में संन्यास आश्रम का ही संकेत प्राप्त होता है। इसका कथन करते हुए आचार्य ने यह लिखा है कि तीसरे आश्रम के पश्चात् अर्थात् वानप्रस्थ आश्रम का समय पूरा करने के बाद पुत्रों में, धन में और स्त्री आदि में अपनी अनुरक्ति छोड़ देनी चाहिए। वे यह लिखते हैं कि जो चतुर्थ आश्रम में प्रवेश करे वह मद और मात्सर्य का पूर्ण रूप से परित्याग कर दे। वह चतुर्थ आश्रम में भिक्षा से जीवन व्ययीत करता हुआ शत्रुओं के प्रति अपने में शत्रुता का भाव न रखे और मित्रों के प्रति उसके मन में अधिक रूप से मित्रता का भाव भी न हो। अर्थात् वह ऐसे स्वभाव का विकास करे कि उसके लिए मित्र और शत्रु सभी समान होवें। शत्रु उसके मन को उद्वेलित न कर पावें और मित्र उसके मन में मोह जागृत न कर सकें। वह निरन्तर समचित्त वाला होकर समता का भाव रखे और सदा समाहित चित्त वाला होवे। उसे चाहिए कि ऐसा करता हुआ भी वह जीव मात्र के प्रति दया भाव वाला होवे और सभी के लिए उसके मन में सहृदयता होवे। उसके लिए यह निर्देश है कि जितने प्रकार की भी सृष्टि है, अर्थात् जरायुज, अण्डज, श्वेदज उद्भिज आदि उस सभी के प्रति उसके मन में मन बचन तथा कर्म से दुर्भावना न होवे। अर्थात् वह अपने मन में किसी के प्रति दुर्भाव न रखे, कोई ऐसा कर्म न करे जिससे दुर्भाव प्रकट होता है। इसी तरह से वह ऐसी वाणी का प्रयोग भी न करे जो किसी को कष्ट देती हो और जिससे किसी के मन में उद्विग्नता उत्पन्न होती हो।

संन्यास आश्रम में निवास करने वाले के लिए यह विधान किया गया है कि वह नियमित रूप से किसी एक स्थान पर बँधकर न रहे। यदि वह ऐसा करेगा तो इससे उसके मन में किसी के प्रति प्रीति हो जायेगी और किसी के प्रति द्वेष हो जायेगा। यह भाव उसके लिए तपस्या में बाधक बनेगा। परिव्राजक भिक्षा करने के लिए तो जाय और उसकी भिक्षा का भाव यह हो कि इसके द्वारा वह अपने प्राणों की रक्षा करेगा। वह उस समय भिक्षा करने के लिए निकले जब गृहस्थों के चूल्हें बुझ जायें और सभी लोग भोजन कर चुकें। ऐसी स्थिति में जो बचा हुआ अन्न हो उसे प्राप्त करें और संतुष्ट हो जावें।

इस प्रकार से वह अपने जीवन में न किसी से भयभीत होवें और न किसी को भयभीत करें। जब वह किसी को भयभीत नहीं करता तब उसे भी अपने जीवन में भय प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार का द्विजाति बुद्धि योग वाला होकर विधिवत् श्रेष्ठ आचरण करता हुआ बिना ईधन के अग्नि के समान प्रज्ज्वलित होकर शान्त रहता है और ब्रह्म लोक की प्राप्ति करता है।[1]

---

१. एकरात्रस्थितिर्ग्रामे पञ्चरात्रिस्थितिः पुरे।
तथा तिष्ठेद्यथाप्रीतिद्वेषो वा नास्य जायते।
प्राण यात्रानिमित्तं चव्यगारे मुक्तबज्जने।
कातने प्रशस्तवर्णानां भिक्षार्थं पर्यटेद् गृहान्।

\- - - - - - -

भोक्षाश्रमं यच्श्रयते यथोक्तं
शुचिस्सुखं कल्पित बुद्धि युक्तः।
अनिन्धनं ज्योतिरिति प्रशान्तः
सः ब्रह्मलोकं श्रयते द्विजातिः। वि. पु. (१), पृ. ४०१-४११

कर्म-सिद्धान्त :-

कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को उपदेश करते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि यह सारा का सारा जगत प्राकृतिक गुणों से परवश है अर्थात विवश है। इसलिए यहाँ पर जिसने भी जन्म लिया है अवश होकर कर्म करता है, क्योंकि ऐसा करने के लिए हर व्यक्ति यहाँ पर बाध्य है। इसलिए वे यह भी कहते हैं कि इसी विवशता के कारण कोई भी ऐसा नहीं है जो एक क्षण भी बिना कर्म किए रह सकता है। सभी को विवश होकर कर्म करना पड़ता है।[१] सम्भवतः यही कारण था कि अर्जुन ने जब स्वयं को युद्ध से विरत करने का प्रयत्न किया तो भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कि तुम्हें हर स्थिति में कर्म करना चाहिए क्योंकि कर्म करना ही तुम्हारे अधिकार में है।[२]

पुराणकार कर्म और कर्मफल की परम्परा पर टिके हुए हैं। पुराणों की जितनी भी कथायें हैं और जिनके भी जीवन चरित्र वर्णित है उन सबकी फल श्रुति में जो दिया गया है वह कर्म का ही परिणाम है। वहाँ पर यह संकेत है कि जो जिस प्रकार का कर्म करेगा वह उसी प्रकार से फल प्राप्त का अधिकारी बनेगा। श्रीमद् भागवत महापुराण में एक स्थान पर एक पुत्रहीन ब्राह्मण के लिए उपदेश करते हुए एक विरक्त ने कहा था कि हे ब्राह्मण। अज्ञान का परित्याग करो, विवेक का आश्रय लो और संसार की सभी वासनाओं का परित्याग कर दो। कर्म की गति बलिष्ठ है और उसमें कोई भी किसी भी रूप में परिवर्तन नहीं कर सकता।[३]

---

१. भ. गी. ३/५

२. वही २/४७

३. भा. पु., पृ. ३७

विष्णु पुराण में कर्म के इस सिद्धान्त का निरूपण किया गया है। जितने भी आख्यान इस पुराण में दिए गए हैं, उनसे यही संकेत किया गया है कि कर्म करना आवश्यक है और जो जिस प्रकार का कर्म करता है वह उस प्रकार के फल का भागी होता है।

राजा उत्तानपाद का कथानक इस सम्बन्ध में उदाहरणीय है। राजा की दूसरी पत्नी सुनीति ने ध्रुव को जन्म दिया था और उसकी पहली पत्नी सुरुचि ने उत्तम को जन्म दिया था। एक दिन जब ध्रुव अपने पिता की गोद में बैठा तो उसकी दूसरी माता सुरुचि ने कहा कि तू, इस आसन की इच्छा क्यों करता है? यदि तुझे राज सिंहासन की इच्छा है तो मेरी कोख से जन्म लें। ध्रुव जब दुखित होकर अपनी माँ के पास गया तो माता ने कहा कि पुत्र! वह ठीक कह रही है तुम्हें उसके वाक्यों से दुखी नहीं होना चाहिए। पूर्व जन्म में जिसने जो कर्म किए हैं उसका फल उसको वैसा ही मिलेगा। तूने पूर्व जन्म में पुण्यवान कर्म नहीं किए इसलिए अब तू इस प्रकार के फलों को देने वाले कर।

---

१. नोदवेगस्तात् कर्तव्यः कृतं यत् भवता पुरा।
तस्यकोऽप हरतुं शक्नोति दातुं कश्चाकृत त्वया।
तत्वया नात्र कर्तव्यं दुःखं तद्वाक्य सम्भवन्।
\- - - - - - - -
मम् पुत्रस्य यथा जातः स्वल्प पुण्यो ध्रुवो भवान्।
तथापि दुःखं न भवामि कुत्र अर्हति पुत्रक।
यस्य यावतृस तेनैव स्वेन तुष्यति मानवः। वि. पु. (१), पृ. १२२

माता की यह बात सुनकर बालक ध्रुव ने अपने हृदय को कठोर किया और निश्चय किया कि अब मैं वही करुँगा जिससे मुझे भाई के द्वारा प्राप्त पद से भी उच्च प्रद प्राप्त हो सके। मैं दूसरे के पुण्य के द्वारा अर्जित किसी के पद को प्राप्त करने का आकांक्षी नहीं हूँ।

यह विचार करके और माता की आज्ञा ले कर ध्रुव चला और उसने मार्ग में मिले हुए तपस्वियों से पूछा कि हे मुनिवर ! आप मुझे वह कर्म करने का मार्ग बतायें जिससे मैं वह पद प्राप्त कर सकूँ, जिसे अभी तक कोई प्राप्त नहीं कर सका है।[1]

ऋषियों ने ध्रुव को भगवान की प्राप्ति का मार्ग बताया और उसके लिए कठोर तपस्या करने का आदेश दिया। ध्रुव ने अपने तपस्या रूपी कर्म से परम पुरुष परमात्मा का साक्षात् दर्शन किया और कर्म के बल से अपनी इच्छा की पूर्णता भी प्राप्त की। इस पुराण में इस कथा की फलश्रुति के रूप में यह कहा गया है कि जो भी ध्रुव जैसा श्रेष्ठ कर्म करता है वह ध्रुव के सदृश ही अद्‌भुत फल प्राप्त करता है। असुरों के आचार्य शुक्राचार्य ने कहा कि इसकी तपस्या आश्चर्य कर है और उसका फल भी प्रभावपूर्ण है। क्योंकि इसी से वह सप्तऋषि गणों में अग्रगण्य हुआ।[2]

---

१. नान्यदत्तमभीप्सामि स्थानं अम्ब स्वकर्मणा।
इच्छामि तदूहं स्थानं यन्नप्राप्यपितामम्।
\- - - - - - -
एतन्मे क्रियतां सम्यक् कथ्यतां प्राप्यते तथा।
स्थानमग्रयं समस्थ्य:.................मुनि सन्तमा:।
वि. पु. (१), पृ. १२३, १२५

२. वही, पृ. १४२-१४३

इस पुराण में एक प्रसंग इस प्रकार का आया है जिसमें यह कहा गया है कि भगवान विष्णु की उपासना ही श्रेष्ठ कर्म है और श्रेष्ठ धर्म है। महर्षि पराशर और श्रोता के रूप में उपस्थित मैत्रेय संवाद में पराशर जी ने कहा कि विष्णु की आराधना करके कोई भी व्यक्ति अपने सभी प्रकार के मनोरथों की पूर्ति कर सकता है। कर्म की इस आवश्यक प्रकृति के लिए पुराणकार ने वर्ण और आश्रम धर्म का निरूपण किया है, जिसमें यह कहा गया है कि प्रत्येक वर्ण और आश्रमवासी के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने लिए निर्धारित कर्तव्यों का पालन करें और इन कर्तव्य रूप कर्मों से अपना कल्याण प्राप्त करें।

कर्म सिद्धान्त के प्रतिपादन में विष्णु पुराण में एक स्थान पर यह लिखा है कि जो व्यक्ति मूर्ख होता है वही क्रोध करता है? जो ज्ञानी है वह कभी किसी पर क्रोध नहीं करता है। वहाँ पर यह लिखा है कि न कोई किसी का वध करता है और न कोई किसी को कष्ट पहुँचाता है। सभी लोग ऐसे हैं जो इस संसार में आकर अपने द्वारा किए गए श्रेष्ठ कर्मों से श्रेष्ठ फलों को प्राप्त करते हैं अथवा निम्न कर्मों के द्वारा निम्न फल प्राप्त करते हैं। महाराज सूत जी इसलिए कहा कि कोई किसी का वध नहीं करता। सभी अपने अपने कृत कर्मों के फल का भोग करते हैं।[1]

---

१. **मूढ़ानामेव भवति क्रोधो क्रोधं ज्ञानवतां कुतः।**
हन्यते तात् कुतः केन यतः स्वकृत भुक्पुमान्। **वि. पु. (१), पृ. ४३**

विष्णु पुराण में राजा पृथु और भागीरथ के कर्म का उल्लेख भी किया गया है। ऋषियों के प्रयत्न से वेन से उत्पन्न हुए राजा पृथु ने जब पृथ्वी का बध करने के लिए अपनी तलवार उठाई तो पृथ्वी ने कहा कि आप ऐसा करके क्या स्त्री हत्या के पाप से भयभीत नहीं हो रहे। उत्तर में राजा ने कहा कि तुम बताओ मुझे क्या करना चाहिए। पृथ्वी ने कहा कि आप ऐसा बछड़ा कल्पित कीजिए जिसके स्नेह के वश होकर औषधि रूप दूध दूँ। आप मुझे सभी ओर से समतल कर दीजिए, जिससे मैं औषधि रूपी बीजों को उत्पन्न कर सकूँ।

महर्षि पराशर जी मैत्रेय को सम्बोधित कर कहते हैं कि तब राजा पृथु ने अपने धनुष की कोटि से हजारों पर्वतों को उखाड़ कर एक ही स्थान पर एकत्रित कर पृथ्वी को समतल कर दिया। वे कहते हैं कि इसके पहले फल, मूल आदि का आहार किया जाता था और पृथ्वी समतल नहीं थी। बाद में राजा ने स्वयं भू मनु को बछड़ा बनाया और अपने हाथ से पृथ्वी से अन्नका दोहन किया। तभी से पृथ्वी पर निवास करने वाली प्रजा अन्न आदि का भोजन कर अपने जीवन का निर्वाह करने लगी। यह सभी पृथु के पराक्रम का फल था। पृथु के पराक्रम से उनके द्वारा धान्य सम्पन्न की गई भूमि पृथ्वी पद से वाच्य हुई।

---

१. तत् उत्सार्यामास शैलान् शत सहस्रशः।
धनुषकोट्या तथा वैनस्तेन शैला विवर्धिताः।
\- - - - - - - - -
नसस्यानि न गोरक्ष्यं न कृषिर्न वणिक पथा।
\- - - - - - - - -
यत्र यत्र समं त्वस्या भूमेराशीद द्विजोत्तम।
तत्र तत्र प्रजाः सर्वा निवासं समरोचय।
\- - - - - - - - -
सस्यजातानि सर्वाणि प्रजानां हितकाम्यया। वि. पु. (१), पृ. १५४-१५५

इसी प्रकार का कठोर कार्य करने वाला एक सन्दर्भ राजा भगीरथ का भी है। भगीरथ ने अपने पूर्वजों का उद्धार करने के लिए कठिन तपस्या की थी। उनकी उस तपस्या के फलस्वरूप भगवान शिव प्रसन्न हुए थे और बाद में गंगा का अवतरण पृथ्वी पर हुआ था। भगीरथ के प्रयत्न का यह परिणाम था कि भगीरथ नाम इनके कर्म का पर्याय बन गया।[1]

कर्म और कर्मफल की महत्ता का संकेत महर्षि पराशर ने हिरण्यकशिपु और प्रहलाद के संबन्ध में भी संकेतित किया है। जब हिरण्यकशिपु ने प्रहलाद को विष दिलवाया, सर्प से कटवाया और पहाड़ से गिरवाया किन्तु उसका कुछ नहीं हुआ तब प्रहलाद ने पिता से पूछा कि पुत्र ऐसा किस मंत्र के प्रभाव से हुआ। इसका उत्तर देते हुए प्रहलाद ने कहा कि जो कभी किसी का अनिष्ट नहीं करता उसका कभी अकल्याण नहीं होता। इसी तरह से जो कभी मन वचन और कर्म से दूसरे का अनिष्ट करना चाहता है वह कभी न कभी कर्म के फलस्वरूप अपने जीवन में अनिष्ट के फल का भागीदार होता है।[2] इस रूप में कर्मफल की महत्ता का आख्यान विष्णु पुराण में किया गया है।

---

१. सागरं चात्मजप्रीत्यापुत्रत्वे कल्पितवान् तस्याँशु मतो दिलीप पुत्रोऽभवत् दिलीपस्य भागीरथ: योऽसौ गंगा स्वर्गादिहानीय भागीरथी संज्ञा चकार।
वि. पु. ४/४/३३-३५

२. अन्येषां यो न पापानि...............।
..................हेत्वभावान्न विद्यते॥
कर्मणा मनसा वाचा परपीडा करोति य: ।
..................प्रभूतं तस्य चाशुभम्॥ वि. पु. १/१५/५/६

पुनर्जन्म :-

सृष्टि के क्रम का आख्यान करते हुए श्रीमद् भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु निश्चित है और जिसकी मृत्यु हुई है उसका पुनर्जन्म भी अवश्यम्भावी हैं।[१] इस रूप में कहने का अभिप्राय यह हुआ कि जन्म और मरण इस सृष्टि की निरन्तर चलने वाली एक ऐसी प्रक्रिया है जो कभी रुकती नहीं हैं। विष्णु पुराणकार भी जब सृष्टि के स्वरूप का वर्णन करते हैं तो वे यह लिखते हैं कि दिन रात प्राणियों का क्षय नित्य प्रलय है। प्रलय के पश्चात् चराचर विश्व की रचना ही सृष्टि है। इस रूप में सृष्टि, स्थिति, संहार की शक्तियों का सभी देवों में समान रूप से संचार होता रहता है।[२] अर्थात् प्रत्येक जीव जन्म लेता है, स्थिति ग्रहण करता है और फिर लीन हो जाता है यही सिद्धान्त जीव के पुर्नजन्म का सिद्धान्त है।

विष्णु पुराण में अनेक वंशों के दीर्घकालिक जीवन का वर्णन किया गया है जैसे कि यह कहा गया है कि भगवान विष्णु की अनुपम शक्ति ने पृथक-पृथक मन्वन्तरों ने भिन्न-भिन्न रूपों में जन्म लिया। इसका वर्णन करते हुए पुराणकार लिखते हैं कि सबसे पहले मन्वन्तर यज्ञ पुरुष ने आकूति के उदर से जन्म लिया। दूसरे मन्वतर वहीं मानस देव तुषित के रूप में उत्पन्न हुए। उत्तम मन्वन्तर सत्या के गर्भ से उत्पन्न हुए। तामस मन्वन्तर हरया के उदर से हरी रूप में प्रकट हुए। चाक्षुष मन्वतर विकुण्ठा के गर्भ से उत्पन्न होकर बैकुण्ठ नाम से प्रसिद्ध हुए।

---

१. भ. गी. २/२७

२. सृष्टिस्थित विनाशानां शक्त्या सर्वदेहिषु।
.........................मैत्रेयाहर्निशं सम:॥ वि. पु. (१), पृ. ९०

मन्वन्तर हुआ वह वैवश्वत मन्वन्तर के नाम से प्रसिद्ध हुए। इसमें भगवान विष्णु अदिति के गर्भ में आये और वामन रूप से अवतरित हुए। इस प्रकार से वे स्वयं ही प्रत्येक जन्म में अवतरित होते रहे। इन्हीं से सम्पूर्ण प्रजा की अभिवृद्धि हुई[1] इसलिए यह स्वयं भी एक जन्म से दूसरे जन्म में अवतरित होते हैं। एक दूसरे स्थान पर भी यह संकेत किया गया है कि भगवान विष्णु सतयुग में कपिल के रूप में अवतरित होते हैं। त्रेता में चक्रवर्ती सम्राट होकर दुष्टों का वध करते हैं। द्वापर में व्यास रूप धरण करके वेदों को चार भागों में बाँटकर उसका विस्तार करते हैं और कलियुग में वे कलि के रूप में अवतरित होते हैं।[2]

इस रूप में अन्य और ऐसे उदाहरण हैं जिनमें यह कहा गया है कि जो सृष्टि भगवान् के द्वारा उत्पन्न हुई है वह उसी के रूप में विविध जीव रूप बनकर बार-बार जन्म लेती है और बार-बार प्रलय प्राप्त करती है।

---

१. वि. पु. (१), पृ. ३६६-३६७
२. वही, पृ. ३७४-३७५

संस्कार :-

सम् उपसर्गपूर्वक कृ धातु से निष्पन्न संस्कार का अभिप्राय होता है व्यक्ति के दैहिक, बौद्धिक तथा मानसिक परिष्कार। इस सम्बन्ध में एक आचार्य ने यह अभिमत व्यक्त किया है कि संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति में अथवा पदार्थ में ऐसी क्षमता आ जाती है कि वह उपभोग के योग्य हो जाता है।[1] व्यक्ति का जन्म पिता के वीर्य और माता के रज से होता है। पिता के शरीर में और माता के शरीर में अनेक प्रकार के दोष होते हैं जिनका परिमार्जन करना आवश्यक होता है। इसलिए प्राचीन समय से ही भारतीय परम्परा में संस्कारों का विधान किया जाता रहा है। तब यह कहा गया है कि विधि विधान से किए गए संस्कार तीन स्तर पर व्यक्ति को परिमार्जित करते हैं और संस्कारों से तीन प्रकार का वैशिष्ट्य प्राप्त होता है। माता-पिता के रज, वीर्य में जो दोष होता है उस दोष को परिमार्जित करने वाले संस्कार यह काम करते हैं कि उनसे शारीरिक दोष दूर हो जाते हैं। इसी तरह से जो व्यक्ति में विशिष्ट काम करने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है, वह उसमें अतिशयाधान करने की क्षमता है और यह संस्कारों के माध्यम से होता है। तीसरे प्रकार के संस्कार वे होते हैं जिनमें यह क्षमता होती है कि वे व्यक्ति के शरीर में आये हुए हीनांग पूर्ति का काम करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि कुछ संस्कारों से दोष परिमार्जन होता है, कुछ संस्कारों से हीन अंग की पूर्ति होती है और कुछ संस्कारों से व्यक्तिकी क्षमता में अतिशयता का विकास होता है।[2] इस प्रकार से जिन संस्कारों का प्रतिपादन होता है वे मनुष्य के परिपूर्ण विकास के लिए आवश्यक होते हैं और उनका प्रचलन प्रारम्भ समय से ही था।

---

१. जै. सू. ३/१/३

२. वै. भा. सं., पृ. २०९

संस्कारों की संख्या को लेकर अनेक आचार्यों में मत भिन्नता है। किसी आचार्य ने इनकी संख्या ग्यारह बताई है।[1] कोई आचार्य कहता है कि इनकी संख्या तेरह है।[2] एक अन्य आचार्य ने चालीस की संख्या तक सँस्कारों की गणना की है। मानवीय सदर्भों में मानव शास्त्र के आचार्य मनु ने गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामधेय आदि सत्रह संस्कारों का उल्लेख किया है।[3] महर्षि याज्ञवल्क्य मनु द्वारा गिनाये गए संस्कारों में केशान्त संस्कार को संस्कार के रूप में स्वीकार नहीं करते। इसलिए याज्ञवल्क्य के मत में सोलह संस्कार ही हैं जबकि आचार्य मनु के मत से केशान्त संस्कार भी संस्कार हैं।[4]

संस्कारों की महत्ता को स्वीकार करते हुए इनका विभाग भी अलग-अलग रूप में किया गया है। जो संस्कार बालक के जन्म लेने के पूर्व किये जाते थे उन्हें प्राक्जन्म संस्कार कहा जाता था। जो संस्कार प्राणी के जन्म के बाद किन्तु उसके मरण के पूर्व किये जाते थे उन्हें शिक्षा सम्बन्धी अथवा आश्रम सम्बन्धी संस्कार कह दिया जाता था। जो संस्कार व्यक्ति के मरने के पश्चात् सम्पादित होते थे वे मरणोत्तर संस्कार कहलाते थे।

---

१. हि. स., पृ. २१-२२
२. वही, पृ. २१-२२
१. म. स्मृ., १/१७
२. या. स्मृ., १/२

विष्णु पुराण में संस्कारों की कोई निश्चित संख्या न ही है और न ही उनका कोई विधिवत् वर्णन किया गया है। कथाक्रम के सम्बन्ध में संकेत रूप में कुछ संस्कारों का कथन किया गया है। महर्षियों ने प्रश्न और प्रतिप्रश्न के सम्बन्ध में यह कहा है कि पिता को चाहिए कि ज़ब पुत्र का जन्म हो तो वह उस समय होने वाले पुत्र का जात संस्कार करे। इस संस्कार के वर्णन में यह संकेत किया है कि उस समय ब्राह्मणों को पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठावे और बालक के अभ्युदय के लिए अभ्युदयात्मक श्राद्ध करे। तब द्विजातियों के अनुकूल देवताओं तथा पितरों को तृप्त करने के लिए श्राद्ध करे।[१]

संस्कारों के इस क्रम में यह वर्णन आया है कि पुत्र के जन्म के दशवें दिन पुत्र का नामकरण करे। नामकरण करते हुए बालक के पहले अक्षर का वाचक शब्द देववाची हो और तव वर्ण वाचक शब्दों का प्रयोग किया जाय। इसमें ब्राह्मण के नाम के आगे शर्मा, क्षत्रिय के नाम के आगे वर्मा, वैश्य के नाम के आगे गुप्त और शूद्र के नाम के आगे दास शब्द का प्रयोग करना चाहिए। इसी प्रकार वहाँ लिखा है।

---

१. जातस्य जातकर्मादिक्रियाण्डमशेषत: ।
पुत्रार्थ पूर्वीत पिता श्राद्धं चाम्युदयात्मकम्।
युगमास्तु प्राङ्मुखान विप्रान् भोजयेन्मनुजेश्वर।
यथा दत्तस्तथा कुर्याद् दैवपित्र्यम द्विजन्जनाम्। वि. पु. ३/१०/४-५

बालक का जो नामकरण किया जाय उसमें ऐसे शब्द का प्रयोग न किया जाय जो अर्थहीन हो, अपशब्द का वाचक हो, अमांगलिक हो तथा कुत्सित अर्थ देने वाला हो। पुराणकार लिखते हैं कि नामकरण करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि बालक का नाम बहुत छोटा भी न हो और बहुत लम्बा भी न हो। अर्थात् बालक के नाम की अति लघुता और अतिदीर्घ स्थिति ठीक नहीं है। बालक का नाम ऐसा किया जाना चाहिए जिसके उच्चारण में असुविधा न होती हो। इस रूप में ऐसा नाम हो जो उच्चारण में सरल हो जिसका अर्थ सहज हो और जिसके नाम लेने से मन प्रसन्न होवे।[1]

इस रूप में जात कर्म संस्कार के पश्चात् नामकरण संस्कार का महत्त्व इस रूप में देखा जा सकता है जिसमें बालक को एक संज्ञा मिलती है और वह अपने परिचय से अपने जीवन को व्यतीत करने के योग्य हो जाता है। इसलिए इस संस्कार को महत्त्वपूर्ण संस्कार के रूप में रेखांकित किया जा सकता है।

---

१. ततश्चनाम कुर्वीत पितैव दृशमेऽहनि।
देवपर्व नराख्यं हि शर्मवर्मादि संयुक्तम्।
शर्मेति ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रसंश्रयम्।
गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः।
नार्थ हीनं न चाशब्दं नापशब्दयुतं तथा।
नामांगदीर्घ नातिह्रस्वें नार्तिगुर्वक्षरान्वितम्।
वि.पु.,पृ.४१३ म.स्मृ. २/३१-३४

नामकरण संस्कार के पश्चात् उपनयन संस्कार का विधान विष्णु पुराण में किया गया है। वहाँ पर यह लिखा गया है कि उपनयन संस्कार किए जाने के पश्चात् बालक को गुरुगृह में निवास करना चाहिए और विधिपूर्वक अध्ययन करना चाहिए। इस क्रम में वहाँ पर यह नहीं लिखा गया है कि किस अवस्था में बालक का उपनयन संस्कार किया जाना चाहिए और किस अवस्था में उसे गुरु गृह भेजना चाहिए। मनुस्मृति कार ने इस सम्बन्ध में निर्देश किया है।[1] विष्णु पुराण में यह उल्लिखित है कि जब बालक का विद्या अध्ययन संस्कार हो जाय तो अपने आचार्य को विधिवत् दक्षिणा दे कर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने की अनुमति प्राप्त करे।[2]

विवाह का संस्कार जीवन में सम्पन्न होने वाला एक ऐसा संस्कार है जिसे महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। यह ऐसा संस्कार है जो जीवन को एक दिशा देता है और जिस संस्कार से बँधकर स्त्री तथा पुरुष अपने जीवन को संचालित करते हैं। ऋग्वेद का एक ऐसा उदाहरण है जिसमें यह कहा गया है कि विवाह के समय वर-वधू से कहता है कि मैं सन्तान तथा सौभाग्य की प्रप्ति के लिए तुम्हारा हाथ ग्रहण करता हूँ। यह कहता हुआ अग्नि की परिक्रमा करता है।

---

१. म०स्मृ० १/३६-३८
२. वि० पु० (१), पृ० ४१३-४१४

अपना जीवन चलाने के लिए उसे स्वीकार करता है।[1] विष्णु पुराण में विस्तार से संस्कारों की चर्चा नहीं है। अनेक कथानकों के सन्दर्भ में विवाहों की चर्चा है जिनमें बलराम जी के द्वारा रैवत की पुत्री रेवती के पाणिग्रहण संस्कार का उल्लेख है।[2] इसी प्रकार से भगवान कृष्ण के अनेक विवाहों से उनके एक ऐसे विवाह की चर्चा है जो युद्ध के बीच में हुआ और जिसमें श्री कृष्ण ने रुक्म की पुत्री रुक्मिणी का हरण किया था। यद्यपि रुक्मिणी श्री कृष्ण की पति रूप में कामना करती थीं और श्रीकृष्ण भी उससे विवाह करना चाहते थे किन्तु रुक्म ने ऐसा नहीं किया। तब श्री कृष्ण ने रुक्मिणी का हरण किया और उसके साथ विवाह किया। पुराणकार ने इस विवाह का संकेत करते हुए यह लिखा है कि रुक्मिणी का राक्षस विधि से विवाह किया गया था, क्योंकि ऐसा विवाह राक्षस विवाह होता है।[3] यद्यपि प्राचीन समय में भी राक्षस विवाह का उल्लेख है क्योंकि तब आठ प्रकार के विवाह होते थे जिनमें से राक्षस विवाह भी एक तरह का विवाह था जिसे उच्च वर्णों के लिए ठीक नहीं माना जाता था।[4]

---

१. ऋक् १० / ८५ / ३६

२. रेवतीं नाम तनयां रैवतस्य महीपतेः।
उपयेमे तस्यां जज्ञाते निशठुल्मुकौ। वि.पु. (१) पृ० २६८

३. निर्जित्य रुक्मिणं शम्यगुपऐमे च रुक्मिणीम्।
राक्षसेन विवाहेन सम्प्राप्तामधुसूदनः।। वही, पृ० २६९

४. आ०ग०सू० १/६; या० स्मृ० १/५०

इस संस्कार के पश्चात् विष्णु पुराण के श्री कृष्ण के चरित्र में अन्त्येष्टि संस्कार का उल्लेख किया गया है, वहाँ पर इस संस्कार को ओर्ध्वदैहिक संस्कार कहा गया है। इस कथा क्रम में यह वर्णित है जब भगवान् श्रीकृष्ण की लीला समाप्त हो गई तो उन्होंने यादवों के संहार का रास्ता प्रशस्त किया। प्रभास क्षेत्र में सभी यादव एकत्रित हुए और उन्होंने मधु पान किया। मधु पान करने के पश्चात् वे परस्पर संघर्ष रत हो गये और उस स्थिति में यादवों के संहार में योगदान किया। स्वयं श्रीकृष्ण ने भी अपनी इच्छा से अपने शरीर का परित्याग किया। बाद में बलराम, रुक्मिणी, रेवती, उग्रसेन, वसुदेव, देवकी और रोहिणी आदि ने अग्नि में प्रवेश कर स्वयं को समाप्त कर लिया। इस स्थिति में केवल अर्जुन ही ऐसे रह गये और उन्होंने ही उन यदुवंशियों का अन्त्येष्टि संस्कार किया, जिसे वहाँ पर ओर्ध्वदैहिक संस्कार कहा गया।[1]

---

१. ततश्र्चान्योन्यमभ्येत्य क्रोधसंस्त लोचनाः।
जघ्नुः परस्परं ते तु शस्त्रै दैवबलात्कृताः।।

\- - - - -

अजन्मयमरे विष्णावप्रमेनेऽखिलात्मनि।
तत्याज मानुषं देहमतीत्यं त्रिविधां गतिम्।।

\- - - - -

ततोऽर्जुनः प्रेत कार्य कृत्वा तेषां यथाविधि।
निश्र्चकाम जनं सर्व गृहीत्वा बज्रमेव च।।

विoपुo(२) पृo ३३४-३३६

(ख) पारिवारिक सम्बन्धों का नैतिक तथा आचारात्मक स्वरूप :-

इस संसार की जो व्यवस्था है उसमें जैसे ही जीव अपने कर्म फल के अनुसार मनुष्य रूप में अवतरित होता है, सर्व प्रथम उसे परिवार का आश्रय मिलता है और उस परिवार के माता-पिता, भाई-बहिन, पति-पत्नी, आदि ऐसे होते हैं, जो उसके जीवन को ठीक प्रकार से चलाने में सहयोगी होते हैं। इसीलिए जहाँ व्यक्ति का वैयक्तिक जीवन महत्त्वपूर्ण है, वहीं उसकी पारिवारिक स्थिति भी उसके लिए कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

इस स्थिति का अनुभव करके ही पुराणकार व्यक्ति के लिए और उससे सम्बन्धित परिवारी जनों के लिए ऐसी नीतियाँ और ऐसे आचार-व्यवहार का कथन करते हैं, जिससे सभी में परस्पर सामञ्जस्य बना रहे और सभी लोग एक दूसरे के लिए सहयोगी बनकर कार्य करते रहें। इसी के साथ ही पुराणकारों ने सृष्टि के अन्य जीवों में और मनुष्यों में जो मूलभूत अन्तर देखा है और जिस अन्तर के कारण मनुष्य और पशु में भेद किया है, वह नीति और आचार का ही स्वरूप है जिसे धर्म भी कह दिया गया है। मनुष्य मात्र के लिए नीतिवान् और आचारवान् होना इसलिए आवश्यक है क्योंकि इसी से मनुष्य मनुष्यता का पालन करके अपना तथा अपने परिवार का कल्याण कर सकता है। परिवार के साथ-साथ समाज के लिए आदर्श बन सकता है। इसी दृष्टि से श्री विष्णु पुराण के रचनाकार अपनी इस कृति से नीति और आचार का कथन सभी के लिऐ करते हैं।

पिता-माता :-

परिवार में पिता और माता दोनों ही ऐसे होते हैं जिनके लालन-पालन पर व्यक्ति का पूरा जीवन आधारित होता है। यद्यपि माता की स्थिति पिता की अपेक्षा अधिक आदर्य और श्रेष्ठ मानी गई हैं।[1] तथापि पिता पोषण करने के कारण कम आदर का पात्र नहीं है। यही कारण है कि भारतीय परम्परा में माता-पिता का आदर करने के लिए स्थान-स्थान पर कहा गया है। श्रीराम ने अपने पिता के आदर को प्रकट करते हुए यहाँ तक कहा था कि मैं अपने पिता के लिए अपना जीवन दे सकता हूँ उनके लिए भयंकर विष भी पी सकता हूँ। माता कौशल्या, पत्नी सीता और राज्य का परित्याग भी कर सकता हूँ।[2] उन्होंने भरत को सम्बोधित करते हुए कहा था कि जो व्यक्ति पिता के वचनों का उल्लंघन करता है वह स्वेच्छापूर्वक अपना जीवन व्यतीत करता है और जीते जी मृत्यु जैसा है।[3] विष्णु पुराण में पिता के प्रति आदर करने के भाव को और उनकी आज्ञा पालन को महत्त्व दिया गया है। वहाँ पर यह निरूपित है कि पिता सर्वत्र प्रशंसनीय है। वे गुरुओं के परम गुरु हैं। इसलिए उन्हींकीस्तुति करनी चाहिए।[4]

---

१. म० स्मृ० २ / १४५
२. आ० रा० २/ ५८ / ७
३. वही ९ /३१ /५५
४. वि० पु० १/ १८/ ११

पुराणकार ने एक स्थान पर नर रूप में अवतरित भगवान् श्री कृष्ण से यह कहलवाया है कि जो दिन माता-पिता की सेवा करे बिना ही व्यतीत हो जाता है वह दिन कल्याणकारी नहीं मानना चाहिए।[1]

इस पुराण में अनेक ऐसे सन्दर्भ हैं जिनमें पिता के विविध रूपों को देखा जा सकता है जिनमें से राजा उत्तानपाद के दो रानियाँ थीं। एक का नाम सुनीति था और दूसरी का नाम सुरुचि था। यद्यपि सुनीति राजमहिषी थीं तथापि राजमहिषी के प्रति राजा का प्रेम अल्पमात्रा में था। एक बार राजमहिषी का पुत्र ध्रुव जब राजा की गोद में बैठा तो राजा ने पिता होते हुए भी अपनी दूसरी पत्नी के प्रभाव में आकर पुत्र का तिरस्कार किया। यह पिता के अनुरूप व्यवहार नहीं था।[2]

एक दूसरा सन्दर्भ दैत्यराज हिरण्यकशिपु और उनके पुत्र प्रहलाद का है। प्रहलाद के पिता ईश्वर को नहीं मानते और वे चाहते हैं कि उनका पुत्र ही ऐसा करे। इसके लिए वे प्रहलाद को आचार्यों के पास भेजते हैं और उनसे कहते हैं कि वे प्रहलाद को ऐसी शिक्षा दें जिससे उसकी बुद्धि पलट जाय और वह मुझे ही विष्णु का अवतार मानने लगे। इसके लिए वह अनेक प्रकार के यत्न करता है किन्तु प्रहलाद की बुद्धि नहीं पलटती।

---

१. **कुर्वतां याति यः कालो मातापित्रौरपूजनम्।**
तत् खण्ड मायुषो व्यर्थमसाधुनां हि जायते।
वि० पु० ५/२१/३

२. **वही, पृ० १२०-१२१**

प्रहलाद के इस आचरण से हिरण्यकशिपु क्रोधित हो जाता है और पिता के रूप में ऐसा व्यवहार करता है जो कल्पना से परे है। पहले वह पाकशाला के रसोइयों से कहता है कि मेरा यह पुत्र दुष्ट तथा दुर्मति है इसलिए इसे विष देकर मृत्यु दे दो। राजा की बात मानकर रसोइये ऐसा करते हैं किन्तु प्रहलाद मृत्यु से बच जाता है।[1] राजा इससे और अधिक क्रोधित होता है और तब वह उसे पहाड़ से गिरवाता है, अग्नि रूपा कृत्या से भस्म करने का प्रयत्न करता है। इसके साथ-साथ हिरण्यकशिपु पिता के रूप में हृदय हीनता का ऐसा परिचय देता है जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती। कभी वह उसे समुद्र में फिकवाता है कभी नागों से डसवाता है और अन्त में प्रहलाद की भक्ति से अभिभूत होकर नृसिंह रूप भगवान का अवतार होता है।

---

१. तस्येतां दानवाश्चेष्टां दृष्ट्वा दैत्यतेर्भयान्।
आचक्षुः स चोवाच सूदानाहूय सत्वरः।
हे सूदा! मम पुत्रोऽसावन्येषामपि दुर्मति।
कुमार्गेदेशिका दुष्टो हन्यतामविलम्बितम्।
- - - - - - - - -
हलाहल विषं तस्स्य सर्वभक्षषु दीयताम्।
अविज्ञा तमसौ पापो हन्यताम् मा विचार्यताम्।
ते तथैव ततश्चक्रः प्रहलादाय महात्मने।
विषमदात यथाज्ञप्तं पित्रा तस्य महात्मनः।
हलाहल विष घोरमनन्तोच्चारणेन सः।
अभिमन्त्रय सहान्नेन मैत्रेय वुभुजे तदा।
अविकार सतद्भक्तया प्रहलादः स्वस्थ मनसः।
अनन्त ख्यातिनिर्वीय जरयामासय तद्विषम्। वि. पु., पृ. २०२

विष्णु पुराण में एक ऐसे पिता का सन्दर्भ आया है, जिसमें वह पिता अपने जीवन में विषयों से तृप्त न होने के कारण अपने पुत्र से युवावस्था माँग लेता है। कथानक इस प्रकार का है जिसमें यह कहा गया है कि राजा नहुष के छह पुत्र थे। उनमें से एक का नाम ययाति था, शुक्राचार्य के शाप के कारण ययाति असमय में ही बूढ़ा हो गया था इसलिए उसने अपने पुत्र यदु से उसका यौवन माँगा। उससे ययाति ने कहा कि मैं आचार्य शुक्र के शाप से बृद्ध हो गया हूँ। मेरी इच्छा पूर्ण नहीं हुई इसलिए तुम मुझे अपना यौवन दो। पुत्र के द्वारा पिता की इच्छा अस्वीकार करने पर पिता ने उसे शाप दे दिया। ययाति के दूसरे पुत्र ने भी ऐसा ही किया। ययाति का जो सबसे छोटा पुत्र था जिसका नाम पुरु था उससे ययाति ने कहा कि तुम मुझे अपना यौवन दो। यह सुनकर उसने कहा कि-हे पिता! यह तो आपका मुझ पर असीम अनुग्रह है। आप मेरी युवावस्था ग्रहण करें और मैं आपकी वृद्धावस्था ले लेता हूँ। पुत्र की युवावस्था लेकर ययाति ने बहुत दिनों तक सांसारिक विषयों का उपभोग किया किन्तु इससे उसके मन को शान्ति नहीं प्राप्ति हुई। उन्होंने विचार किया कि यह संसार और संसार की समग्र वस्तुयें एक ही व्यक्ति के लिए पूरी नहीं हैं। और कोई भी ऐसा नहीं है जो इनके भोग से परम तृप्त हो सका है। यह विचार कर उन्होंने पुत्र का यौवन उसे वापस कर दिया और अपने राज्य का उत्तराधिकारी भी उसी को बना दिया। वे तपस्या करने के लिए वन चले गए।[१]

---

१. वि. पु. ४/१०/१५-३२

इन पिताओं के विपरीत आचरण और व्यवहार करने वाले दूसरे पिताओं के सन्दर्भ भी विष्णु पुराण में उपलब्ध हैं जैसे कि वसुदेव और नंद आदि। कंस ने प्रसन्न होकर वसुदेव का देवकी के साथ विवाह किया किन्तु जब नारद जी ने कंस को यह कह दिया कि देवकी के गर्भ से उत्पन्न होने वाला आठवां पुत्र तुम्हारा बध करेगा तो कंस ने वसुदेव और देवकी को कारागार में डाल दिया। बाद में वसुदेव ने कहा कि मैं अपने प्रत्येक पुत्र को तुम्हारे सामने उपस्थित करूँगा। अपने वचनों का पालन करते हुए उन्होंने वैसा किया भी किन्तु जब श्रीकृष्ण का अवतार हुआ तो उन्हें बचाने के लिए वसुदेव कृष्ण को लेकर ब्रज की ओर गए। जिस समय वसुदेव जा रहे थे तब घनघोर वर्षा हो रही थी और चारों ओर का वातावरण भयावना तथा डरावना था। यद्यपि पुराणकार ने यह वर्णन किया है कि भगवान की कृपा से वसुदेव का मार्ग सरल हो गया था किन्तु वसुदेव ने पुत्र के स्नेह के वशीभूत होकर उन्होंने श्रीकृष्ण को गोकुल पहुँचाया। इधर कारागार से मुक्त होकर वसुदेव ने नंद को यह सूचना दी कि आपको बालक उत्पन्न हुआ है, इसलिए आप प्रसन्न हों। बाद में कंस के अनुचरों ने अनेक राक्षसों को भेज कृष्ण को मारने का प्रयत्न किया किन्तु कृष्ण ने उन सबका वध कर दिया। इन सब आपदाओं के रहते हुए भी नंद ने श्रीकृष्ण का पालन-पोषण स्नेह पूर्वक किया और पुत्रवत् कृष्ण का पालन किया। इससे पिता की वात्सलता प्रकट हुई।[१]

---

१. वि. पु. (२), पृ. १४४-१६७

विष्णु पुराण की कथाओं के क्रम में जिस प्रकार से पिता के व्यवहार का संकेत मिलता है उसी तरह से माताओं के स्वभाव और व्यवहार का संकेत भी किसी न किसी रूप में प्राप्त है। उदाहरण के लिए हम यहाँ पर राजा उत्तानपाद की पत्नियों सुनीति और सुरुचि का दृष्टान्त दे सकते हैं। दोनों की मनोवृत्तियों में माता रूप में पर्याप्त अन्तर है। सुरुचि ईर्ष्या वश पुत्र ध्रुव का अपमान करती है और सुनीति ध्रुव के अपमानित होने पर भी अपनी सौत के प्रति आक्रोश व्यक्त नहीं करती है। वह श्रेष्ठ माता के रूप में पुत्र को सत्कर्म करने की आज्ञा देती है ओर यह बताती है कि इसी से उसका मार्ग प्रशस्त होगा। इन दोनों में से एक ईर्ष्यालु किन्तु दूसरी उदार व्यवहार वाली हैं।[1]

कृष्ण चरित्र में भी दो मातायें उल्लेखनीय हैं। एक देवकी दूसरी यशोदा। देवकी कारागार में रहकर अनेक प्रकार के कष्ट भोगती हैं और अन्त में अपने पुत्र कृष्ण की रक्षा के लिए उसे अपरिचित हाथों में गोकुल भेज देती हैं। यह उसका वात्सल्य है। यशोदा यह जानती है कि कृष्ण उसका पुत्र नहीं है किन्तु वह कृष्ण का पालन-पोषण उसी तरह से करती हैं जैसे कोई अपने पुत्र का पालन-पोषण करता है। जब कभी कृष्ण पर कंस द्वारा दी गई आपत्ति आती है तो यशोदा व्यथित हो जाती है। मातृ रूप में यशोदा कृष्ण के लिए बहुत अधिक स्नेहवाली हो जाती हैं और वे यह सोच नहीं पातीं कि कृष्ण के बिना के कैसे रहेंगी। पुत्र के प्रति माता का यह भाव श्रेष्ठ भाव है और यह भाव यशोदा में दिखाई देता है।[2]

---

१. वि. पु. (१), पृ. १३०-१२२
२. वि. पु. (२), पृ. १६३-१६४

पति-पत्नीः-

मनुष्य के जीवन के संचालन में दाम्पत्य सम्बन्ध एक ऐसा सम्बन्ध है जिसकी तुलना अन्य किसी सम्बन्ध से नहीं की जा सकती है। यह सम्बन्ध समाज के आदिकाल से चला आ रहा है और इसे जीवन का मूल सम्बन्ध माना जाता रहा है। इसमें पति और पत्नी के लिए कुछ नियम भी निर्धारित किए गए थे जिनमें से एक महत्वपूर्ण नियम यह था कि वे दोनों एक-दूसरे के प्रति समर्पित हों। विष्णु पुराण में जब हम इस सम्बन्ध को लेकर देखते हैं तो हमें पति और पत्नी के रूपों में ऐसा दिखाई देता है कि तब अनेक विवाह करने की परम्परा थी जिसमें पति अनेक पत्नियाँ रखता था। राजाओं के और ऋषियों के भी ऐसे अनेक आख्यान हैं, जिनके आधार पर यह पुष्ट होता है कि तब ऋषि और राजा अनेक विवाह करते थे।

एक आख्यान इस प्रकार का प्राप्त है जिसमें ऋषि सौभरि कन्या प्राप्ति की इच्छा से राजा मान्धाता के पास गए और उनसे कहा कि राजन्! मैं परिवार बसाने का इच्छुक हूँ। आप मुझे अपनी एक कन्या दीजिए। राजा ने ऋषि की वृद्धावस्था देखकर कहा महाराज! हमारे यहां यह परम्परा है कि कन्या जिसे पसन्द करती हैं, उसका विवाह उसी के साथ कर दिया जाता है।

इस पर ऋषि ने कहा कि जो कन्या मुझे पसन्द करेगी, मैं उसी से विवाह करूँगा। ऋषि ने तपस्या के बल से सभी कन्याओं को आकृष्ट किया और उनके साथ मान्धाता की सभी कन्याओं का विवाह हुआ। बाद में सौभरि ने उन सभी को अपनी तपस्या के बल से सुखी किया और पिता के पूछने पर उनमें से प्रत्येक ने कहा कि वे अर्थात् ऋषि सौभरि उनके पति सबसे अधिक उसे ही चाहते हैं। वे अन्य किसी दूसरी स्त्री के पास जाते ही नहीं हैं।[1]

यहाँ दो तथ्य दृष्टव्य हैं जो पतियों के व्यवहार को प्रदर्शित करते हैं। एक तो यह कि पति चयन में कन्या स्वतन्त्र थी। इसलिए ऋषि सौभरि ने अपनी तपस्या के प्रभाव से बलात् राजा की कन्या से विवाह नहीं किया। जब मान्धाता की कन्याओं ने उनका वरण किया, तभी उन्होंने राजा की कन्याओं से विवाह किया दूसरा तथ्य यह भी दृष्ट्व्य है कि पिता के पूछे जाने पर सभी कन्याओं ने यह कहा कि वे सबसे अधिक उसे ही चाहते हैं। इससे पति का पत्नी के प्रति प्रेम प्रदर्शित होता है, जो दाम्पत्य जीवन का परम आधार है और जिस पर पति-पत्नी का व्यवहार टिका है।

---

१. वि. पु. (२), पृ. ५०७

पाण्डव वंश में भी इसी प्रकार से कथा है जिसमें शूरसेन राजा के मित्र कुन्ति को सन्तान हीनता थी। राजा शूरसेन ने अपनी कन्या प्रथा को पुत्री के रूप में कुन्ति को दिया था। राजा कुन्ति ने पृथा नाम की उस पुत्री का विवाह पाण्डवों के राजा पाण्डु के साथ कर दिया था। बाद में इन्हीं पाण्डु के साथ माद्री का भी वरण हुआ और पाण्डु दो पत्नियों के पति बने। इन दोनों स्त्रियों से जो पुत्र उत्पन्न हुए वे पाण्डु कहे गए।[१]

इसी तरह से राजा देवक के चार पुत्र और वृकदेवा, उपदेवा देवरक्षिता, श्रीदेवा, शान्तिदेवा, सहदेवा, देवकी, नामकी सात कन्यायें थीं। ये सभी कन्यायें वसुदेव को विवाही गईं और इन सातों के पति वसुदेव हुए।[२]

कुछ ऐसे पतियों का उल्लेख भी है जो या तो स्वयम् स्त्री पर आसक्त होकर उसे पत्नी बना लिया अथवा स्त्री के आसक्त होने पर उससे विवाह कर लिया, फिर यह विवाह भले ही बलपूर्वक हरण करके करना पड़ा हो। पुरुरवा नाम के एक राजा ने उर्वशी नामकी एक रूपवती युवती को देखा और वह उस पर आसक्त हो गया।

---

१. वि. पु. ४/१४/३२-३८

२. वही, ५/१४/१८-१९

उसने उर्वशी से अपनी कामना की पूर्ति की आकांक्षा की। उर्वशी भी राजा पर आसक्त होकर अपनी शर्तों के साथ राजा के साथ रह गई। इसमें राजा की आसक्ति मुख्य हेतु थी।[1] दूसरी ओर श्री कृष्ण का चरित है। श्री कृष्ण और रुक्मिणी के विवाह की कथा ऐसी है जिसमें कुण्डिलपुर निवासी राजा भीष्मक के एक पुत्र रुक्मी और एक पुत्री रुक्मिणी थे। रुक्मिणी भगवान् श्री कृष्ण को चाहती थी और और पति रूप में उनका वरण करना चाहती थी। श्रीकृष्ण रुक्मिणी की इस इच्छा से प्रसन्न थे और वे भी रुक्मिणी को अपनी पत्नी बनाना चाहते थे, रुक्मी श्री कृष्ण से द्वेष करता था, इसलिए श्री कृष्ण द्वारा रुक्मिणी की याचना किए जाने पर भी रुक्मी ने रुक्मिणी श्री कृष्ण को नहीं दी और उसने अपनी बहिन का विवाह शिशुपाल के साथ करने का निश्चय किया। इस स्थिति में श्री कृष्ण और शिशुपाल तथा रुक्मी के साथ युद्ध होने की स्थिति बनी और घोर युद्ध हुआ। बाद में श्री कृष्ण ने रुक्मिणी का हरण कर लिया और प्रसन्नतापूर्वक उसके साथ विवाह किया।[2] इस विवाह में यह दृष्ट्व्य है कि रुक्मिणी अर्थात् स्त्री ने पुरुष को पसन्द किया था जब कि राजा पुरुरवा के विवाह में स्त्री को पुरुष ने पसन्द किया था।

---

१. वि. पु. (२), पृ. ३६-३७

२. निर्जित्य रुक्मिणं सम्यगुपमेये च रुक्मिणीम्।
राक्षसेन विवाहेन सम्प्राप्तां मधु सूदनः॥
वही, पृ० २६९

विष्णु पुराण में एक आख्यान इस प्रकार का प्राप्त होता है जिसके अनुसार एक पत्नी अपने पति के लिए अनेकों जन्म तक प्रतीक्षा करती रही। प्राचीन समय में शतधनु नाम का एक राजा था जिसकी पत्नी का नाम शैव्य था। उन दोनों ने बहुत समय तक भगवान् की अर्चना की किन्तु जब दोनों का शरीर छूटा तो रानी ने काशी नरेश की पुत्री के रूप में जन्म लिया, जबकि राजा ने अपने एक अशुभ कार्य के कारण श्वान योनि में जन्म लिया। काशी नरेश ने जब अपनी पुत्री का विवाह करना चाहा तो उसने इसका निषेध कर दिया और अपनी दिव्य दृष्टि से यह जान लिया कि उसका पति श्वान रूप में उत्पन्न हुआ है। तब रानी ने प्रयत्न पूर्वक राजा को श्वान योनि से मुक्त कराया। बाद में अपने अकर्म के कारण राजा श्रृगाल, भेड़िया, गीध, कौआ, मयूर की योनिओं में उत्पन्न हुआ और सभी जगह रानी ने उसे उसकी उस योनियों से मुक्त कराया। बाद में रानी ने उस राजा के राजकुमार होने पर उससे प्रेम पूर्वक विवाह किया और पुनः उसे पति रूप में प्राप्त किया।[1] इस प्रकार से पति और पत्नियों की स्थिति का वर्णन करते हुए विष्णु पुराणकार का यह अभिमत है कि इन दोनों के बीच परस्पर प्रेम होना ही सुखदायक है।

---

१ बुभुजे च तया सार्धं सम्भोगान्नृपनन्दनः।
पितुरुपरते राज्यं विदेहेषु चकार सः॥ वि.पु. ३/१८/८९

पुत्र-पुत्री :-

विष्णु पुराण में अनेक ऐसे आख्यान हैं, जिनमें पुत्र के आचरण और व्यवहार का संकेत मिलता है। इनमें से भागीरथ, श्रीराम, पुरुरवा, कंस, प्रहलाद और ध्रुव का स्मरण किया जा सकता है। सगर के साठ हजार पुत्रों ने जब महर्षि कपिल का अपमान किया और वे ऋषि के श्राप से भस्म हुए, तब उसी वंश में उत्पन्न होने वाले भगीरथ ने अपने कठोर तप से गंगा को पृथ्वी पर अवतरित किया। दिलीप के इस पुत्र ने अपने पूर्वजों के लिए न केवल कठोर तप किया अपितु उसने एक प्रकार से श्रेष्ठ पुत्र का ऐसा व्यवहार किया जो आदर्श व्यवहार हो सकता है।[1]

श्रीराम के रूप में यहाँ पर हम एक ऐसे पुत्र के चरित्र का उदाहरण दे सकते हैं जिन्होंने न केवल राक्षसों के विरुद्ध अपने पुरुषार्थ का प्रदर्शन किया और रावण से सीता हरण का प्रतिशोध लिया, अपितु अपनी विमाता की इच्छा का आदर करते हुए वे अपने पिता की आज्ञा मान कर वन में चले गये। ऐसा करते हुए उन्होंने उस अयोध्या का परित्याग कर दिया जिसका अधिकार उन्हें था और जिस पर उन्हें राज्य करना चाहिए था।[2]

इसी तरह का एक कथा प्रसंग महर्षि पाराशर ने इस प्रकार का प्रस्तुत किया जिसमें नहुष के छह पुत्रों का कथन किया गया है। इनमें से एक पुत्र का नाम ययाति था जिसे शुक्राचार्य ने वृद्ध होने का श्राप दे दिया था। ययाति असमय में ही वृद्ध हुआ इस लिए उसके मन में भोग इच्छा बनी रही और अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए उसने अपने पुत्रों से उनका यौवन माँगा। ययाति के जितने भी पुत्र थे

---

१. वि.पु. ४/४/३६
२. पितृवचनात् अगणित राज्याभिलाषी भ्रातृभार्यासमेतो वनं प्रविवेश।
वही, पृ० ४/४/९५

उनमें से जो प्रथम पुत्र था उसने पिता को अपना यौवन देना अनुकूल नहीं माना फलस्वरूप ययाति ने उसे श्राप दे दिया। बाद में ययाति ने द्वितीय पुत्र तुर्वसु से अपनी वृद्धावस्था लेने को कहा-इस पुत्र ने भी पिता की आज्ञा मानने से इंकार कर दिया। तब राजा ययाति ने द्रुह्य और अनु को भी कहा कि वे पिता की वृद्धावस्था ले लें और अपना यौवन उन्हें दे दें। इन दोनों पुत्रों ने भी ययाति की इच्छा पूरी करने में असमर्थता व्यक्त कर दी और अपनी युवावस्था देने से इंकार कर दिया। राजा ययाति ने अपने पुत्रों के इस व्यवहार पर और अपनी आज्ञा न मानने पर उन सभी को शाप दे दिया और राज्य च्युत कर दिया। अन्त में शर्मिष्ठा के छोटे पुत्र पुरु से अपने यौवन देने की कामना ययाति ने की। इसके उत्तर में पुरु ने बड़े ही आदर भाव से अपने पिता की वृद्धावस्था लेने की स्वीकृत दी और अपना यौवन उन्हें दे दिया। ययाति की आज्ञा पा पुत्र ने कहा था कि हे पिता! यह आपका मुझ पर परम अनुग्रह है। इसे मैं अवश्य स्वीकार करूँगा।[1]

इस कथानक में हम एक ही पिता के दो प्रकार के पुत्रों को देखते हैं। एक प्रकार के पुत्र वे हैं जो अपने पिता की आज्ञा की उपेक्षा कर देते हैं और दूसरा पुत्र वह है जो अपने पुत्र धर्म का पालन करता है और पिता की कठिन आज्ञा का पालन करने में संकोच नहीं करता। वह एक आदर्श पुत्र कहा जा सकता है।

---

१ ४/१०/१५-१७

एक पुत्र दैत्य कुल में उत्पन्न हुआ प्रहलाद भी है यद्यपि वह दैत्य कुल में उत्पन्न हुआ है तथापि उसका व्यवहार अपने पिता के प्रति इस प्रकार का है जैसा व्यवहार एक श्रेष्ठ पुत्र का हो सकता है। प्रहलाद जन्म से ही भगवत् भक्त था। उसकी दृष्टि में ईश्वर की सत्ता ही परम सत्ता थी और उसके अतिरिक्त अन्य किसी भी सत्ता को वह नहीं मानता था। दैत्य राज हिरण्यकशिपु अपने को सर्वश्रेष्ठ मानता था। वह यह कहता था कि मेरे अतिरिक्त इस संसार में और कोई नहीं है मैं ही एक मात्र ऐसा श्रेष्ठ राजा हूँ, जिसके अधीन सम्पूर्ण पृथ्वी है और मेरी आज्ञा का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता है। एक बार उसने भगवत् भक्ति करते हुए अपने पुत्र को देखकर कहा था कि मूर्ख! जिस विष्णु का वरण तू मेरे समक्ष कर रहा है और उसे इस संसार का कर्ता तथा धर्ता बता रहा है वह कौन है, कहाँ है, मुझे बता। उसने पुत्र प्रहलाद से कहा था, तू मूर्ख है। मेरे अतिरिक्त इस पृथ्वी पर और कोई ईश्वर नहीं हो सकता है। यदि तू बार-बार इस प्रकार से कहता रहेगा तो निश्चित रूप से तुझे मृत्युदण्ड प्राप्त होगा।[1]

हिरण्यकशिपु के यह कहे जाने पर भी जब प्रहलाद ने विष्णु के स्मरण से अपने आप को विरत नहीं किया तब उसके पिता ने विष दिलवाकर, पर्वत से नीचे गिरवाकर, जलती हुई अग्नि में फिंकवा कर,

---

१. कोऽयं विष्णुः सुदुर्बुद्धे यं ब्रवीषि पुनः-पुनः।
जगतामीश्वरः कोऽयं पुरतःप्रसभं मम्।
\- - - - - - -
तथापि मर्तुकामस्त्वं प्रब्रवीसि पुनः-पुनः। वि. पु. (१), पृ. १९०

विशाल हाथी के पैर के नीचे दबवाकर प्रहलाद को मारना चाहा। किन्तु भगवत् कृपा के आश्रय को पाकर प्रहलाद अमर रहा और किसी प्रकार से मारा न जा सका। बाद में जब वह स्वयं प्रहलाद को मारने के लिए उद्यत हुआ तब नृसिंह भगवान प्रकट हुए और उन्होंने हिरण्यकशिपु का वध किया। इसके बाद जब नृसिंहावतार भगवान ने प्रहलाद से वर माँगने को कहा तो प्रहलाद ने पिता की सद्गति की याचना की। प्रहलाद ने भगवान से कहा कि आप के प्रति दुर्भावना रखने के कारण मेरे पिता को जो पाप लगा है उससे वे मुक्त हो जायँ। इसी प्रकार से मेरे देह पर शस्त्राघात करने पर, अग्नि में जलवाने से, सर्पों के कटवाने से, पहाड़ से फिकवाने से तथा अन्य अनेक प्रकार से दुर्व्यवहार करने से जो पाप मेरे पिता को लगा हो, उससे वे मुक्त हो जायँ।[1]

इस रूप में हम ऐसे पुत्र को देखते हैं जो अपने पिता द्वारा किये गए अन्याय को सहन करते हुए अपने पिता के प्रति किसी प्रकार की दुर्भावना नहीं रखता। इसी प्रकार का एक पुत्र ध्रुव भी है जो अपने माता-पिता द्वारा अपमानित किए जाने के बाद भी मन में किसी प्रकार दुर्भाव नहीं रखता।[2]

---

१. मयि द्वेषानुबन्धोऽभूत्संस्तुताबुद्यते तव।
मत्पितुस्तत्कृतं पापं देव तस्य प्रणश्यतु।
\- - - - - - -
त्वयि भक्तमतो द्वेषादघं तत्सम्भवं चयत्।
त्वत्प्रसादात्प्रभो सद्यस्तेन मुच्येत मे पिता। वि. पु. (१), पृ. २२४

२. वही, पृ. १२४

गुरु-शिष्य :-

आश्रम धर्म का वर्णन करते हुए पुराणकारों ने ब्रह्मचर्य आश्रम के विषय में यह लिखा है कि जैसे ही बालक का उपनयन संस्कार सम्पन्न हो जाय उसे विद्याध्ययन के लिए गुरुगृह भेज देना चाहिए।

वहाँ पर रहकर वह ब्रह्मचर्य पालन करते हुए गुरु से विद्या प्राप्त करें और संध्या बंदन करते हुए सूर्य की उपासना करता हुआ गुरु को प्रणाम करे। शिष्य के लिए यह विधान किया गया है कि वह गुरु का आदर करे पूरे मन से उसका अनुसरण करे, गुरु जब बैठें तब शिष्य बैठे, गुरु जब चले तब शिष्य चले, गुरु के लिए भिक्षा की व्यवस्था करता हुआ जब गुरु भोजन कर लें तब भोजन करे। शिष्य को चाहिए कि वह कभी भी गुरु के विरुद्ध किसी प्रकार का आचरण न करे।[1]

गुरु-शिष्य की इस परम्परा का पालन सभी ने किया है यहाँ तक कि ब्रह्म के अवतार श्रीकृष्ण ने भी ज्ञान प्राप्त के लिए गुरुगृह की यात्रा की। संदीपन मुनि के आश्रम में श्रीकृष्ण और बलराम अध्ययन के लिए गए और वहाँ पर उन्होंने अपने गुरु की सेवा उसी प्रकार से की जैसे कोई एक सामान्य शिष्य अपने गुरु की सेवा करता है।[2]

---

१. वि. पु. (१), पृ. ४०७

विदिताखिलविज्ञानौ सर्वज्ञानमयावपि।
शिष्याचार्यक्रमं वीरौ ख्यापयन्तो यदूत्तमौ।
\- - - - - - -
वेदाभ्यासकृतप्रीति संकर्षण जनार्दनौ।
तस्य शिष्यौ......................। **वही ५/२१/२०-२१**

विष्णु पुराण में दो कथायें इस प्रकार की हैं जिनमें आचार्यों के दो रूप देखने को मिलते हैं। एक में गुरु भय तथा लोभ के वशीभूत होकर प्रहलाद को ऐसी शिक्षा देते हैं जो उचित नहीं है प्रहलाद कहते हैं कि इस सृष्टि का संचालक परम पुरुष विष्णु है और वही इस सबकी रक्षा करता है। वह आदि, मध्य और अन्त से परे है। इस संसार के जितने भी कारण है उन सबका कारण वही अकेला है। उसके स्मरण मात्र से जन्म, जरा और मृत्यु का भय जाता रहता है। जिसके प्रताप के आगे सूर्य का तेज न्यून है और अग्नि भी जिसके समक्ष तेजस्विनी नहीं है। वह इस पृथ्वी पर गौ ब्राहमण का पालक है। विश्व के सृजन करता के रूप में वह ब्रह्मा है, पालक के रूप विष्णु है और संहार के रूप में रूद्र है, वही विद्या है, वही अविधा है, वही सत्य है, वही असत्य है, वही अमृत है और वही विष है। वही प्रकृति रूप है, और वही निवृत्ति रूप है।

प्रहलाद के इस प्रकार कहने पर हिरण्यकशिपु क्रोधित हुआ। उसने प्रहलाद के गुरुओं से पूछा कि यह शिक्षा इसे किसने दी, इसके उत्तर में प्रहलाद के गुरुओं ने कहा कि यह शिक्षा हमारी नहीं है। हम इसे ऐसी शिक्षा देगें, जिससे इसकी मति का विपरीत भाव बदल जायेगा। इस रूप में उन्होंने प्रहलाद को सिखाया कि तुम्हारे पिता परम श्रेष्ठ हैं। वे ही सभी देवताओं तथा लोकों के संरक्षक हैं। बाद में उन गुरूओं ने प्रहलाद के द्वारा अपनी शिक्षा न माने जाने पर प्रहलाद के ऊपर

---

१. वि. पु. १/१९/६९-७०

कृत्या जैसी भयानक राक्षसी का प्रयोग किया और ये चाहा कि उनका शिष्य प्रहलाद मृत्यु को प्राप्त कर ले जिससे हमारे राजा हम पर प्रसन्न हो जायँ।[1]

इस रूप में प्रहलाद के गुरुओं का आचरण शास्त्र के अनुकूल नहीं माना जा सकता और उनके आचरण-व्यवहार से ऐसा प्रतीत होता है जैसे वे हिरण्यकशिपु से भयभीत होकर ऐसा व्यवहार कर रहे हैं।

एक दूसरे गुरु इसके विपरीत हैं। वे अपने शिष्य को जिसका नाम निदाघ था। उपदेश करते हैं और उसे राज्य करने के लिए अपने राज्य में जाने देते हैं। कुछ दिन बाद उन्हें यह अनुभव होता है कि उनका शिष्य सांसारिक मोह में अधिक फँस गया है इसलिए उसे परम ज्ञान का उपदेश करते हैं। जब राजा को सत्-असत् का विवेक हो जाता है तब वे कहते हैं कि हमारा यही उद्देश्य है और कर्तव्य भी है कि शिष्य को सत् और असत् का विवेक हो जाय।[2] इस रूप में ऋभु गुरु के पद के अनुरुप आचरण करते हैं। आदर्श गुरु के यही लक्षण हैं कि वह भय और लोभ का त्याग कर सत् शिक्षा का प्रसार करें।

---

१. किं देवैः किं अनन्तेन किं अन्नेन तवाश्रयः।
पिता ते सर्व लोकानां त्वं तथैव भविष्यसि।
\- - - - - - -
श्लाघ्याः पिता समस्तानां लोकानां परमोगुरुः।
\- - - - - - -
ततः कृत्या विनाशाय तव.................। वि. पु. (१), पृ. २०३-२०६

२. इहागतोस्मि यास्यामि परमार्थस्तवोदितः। वही २/१५/३४

अतिथि :-

कठोपनिषद् में यम और नचिकेता के प्रसंग में अतिथि के महत्त्व का कथन किया गया है और वहाँ पर यह संकेत किया गया है कि किसी के घर में आया हुआ अतिथि यदि वापस चला जाता है और उसका यथोचित सत्कार नहीं होता तो इससे गृहस्थ को अकृत का फल भोगना पड़ता है।[1] इसी तरह से एक स्थान पर यह लिखा है कि अतिथि चाहे जिस वर्ण का हो, वह घर पर आया हुआ हो तो पूज्य होता है। वहाँ पर यह लिखा गया है कि श्रेष्ठ वर्ण वाले के घर यदि नीच वर्ण का कोई अतिथि आ जाय तो भी उच्चवर्ण को उसका स्वागत करना चाहिए। क्योंकि अतिथि देव रूप होता है और सभी के लिए पूज्य होता है।[2]

पुराण परम्परा में भी हम यह देखते हैं कि अतिथि का महत्त्व पूरी तरह से स्वीकार किया गया है। एक सन्दर्भ से ऐसा प्रतीत होता है कि तब राजांगणों के अन्य कर्तव्यों में एक कर्तव्य यह भी था कि वे अर्ध्य लेकर अतिथि की प्रतीक्षा करें और उसका स्वागत करें। राजा निदाघ के यहाँ जब ऋषि ऋभु गये थे तो उन्होंने यह देखा था कि उनका शिष्य निदाघ अर्ध्य लेकर अतिथि की प्रतीक्षा में बाहर खड़ा हुआ है। उसने ऋषि ऋभु के आने पर अर्ध्य देकर उनका स्वागत किया।[3]

---

१. कठ., पृ. ४९

२. हि., पृ. ६

३. दिव्यवर्षसहस्त्रेतु समतीतेऽस्य तत्पुरम्।
जगाम स ऋभुः शिष्यं निदाघमवलोकतः।
स्थितस्य तेन गृहीतार्घ्यो निजवेश्व प्रवेशिता। वि.पु. २/१५/८-९

गृहस्थ आश्रम धर्म का निरुपण करते हुए विष्णु पुराण में यह कहा गया है कि अतिथि का यथोचित सत्कार करना गृहस्थ का प्रमुख धर्म है। वहाँ पर यह कहा गया है कि जब किसी गृहस्थ के घर में कोई अतिथि आये तो मीठे वचन बोलकर उसका स्वागत करना चाहिए। यथाशक्ति उसके निवास का स्थान, उसके बैठने का आसन और उसके शयन के लिए शैया देनी चाहिए। किसी भी स्थिति में उसका अपमान नहीं करना चाहिए। उसके साथ दुर्व्यहार नहीं करना चाहिए और कोई वस्तु यदि उसे दे दी गई है तो बाद में उसका पाश्चाताप नहीं करना चाहिए।

विष्णु पुराण में यह संकेत दिया गया है कि जिस किसी के घर आया हुआ अतिथि यदि निराश होकर लौटता है और यथोचित रूप से उसका स्वागत नहीं किया जाता है तो वह अतिथि अपने सभी पाप कर्म उस गृहस्थ को दे जाता है। साथ ही साथ गृहस्थ के जो पुण्य कर्म होते हैं अतिथि उन्हें अपने साथ ले जाता है। अतिथि सेवा के इस महत्त्व को इतना अधिक विशेष बताया गया है कि वानप्रस्थ आश्रम में निवास करने वालों के लिए अतिथि सेवा का विधान किया गया है।[1]

---

१. अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते।
स दत्वा दुष्कृतम तस्मै पुण्यमादाय गच्छति।
\- - - - - - -
देवताभ्यर्चनं होमस्सर्वाभ्यागत पूजनम्।
भिक्षा बलि प्रदानं च शस्तमस्य नरेश्वर। वि. पु. (१), पृ. ४०९

(ग) विष्णु पुराण की वैयक्तिक नीति तथा आचार :-

व्यक्ति का जीवन और उसके स्वरूप का परिचय दो प्रकार से होता है। जब वह व्यक्तिगत रूप से अपनी शिक्षा और संस्कारों से अपने स्वभाव को प्रकट करता है तब उसका यह वैयक्तिक स्वरूप होता है किन्तु इसी के साथ जब वह समाज में रहकर अपने स्वभाव और स्वरूप को प्रकट करता है तो यह उसका सामाजिक स्वरूप होता है। व्यक्तिगत रूप से व्यक्ति में कुछ गुण होते हैं और कुछ अवगुण होते हैं उसके गुणों में सत्य बोलना, क्षमाशील होना, दया करना, कारुणिक होना और मित्रता के भाव को महत्त्व देना आदि सम्मिलित हैं। विष्णु पुराण के आख्यानों में एक ओर व्यक्तिगत गुणों को प्रकट किया गया है दूसरी ओर उसके उन गुणों का सामाजिक प्रभाव देखने का प्रयत्न भी किया गया है। यहाँ पर व्यक्ति के करुणा और मैत्री के जो भाव होते हैं उनका संकेत ग्रहण किया जा सकता है।

करुणा और मैत्री के भाव :-

वैसे तो इस जगत में जो इसका निर्माता है और पालन करता है वही परम कारुणिक है। उसी की करुणा का यह फल है जिससे सभी जीव अपना जीवन भली-प्रकार से व्यतीत कर पाते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने नर रूप में अवतार लेकर जो चरित्र किया वह उनकी करुणा को सर्वत्र प्रकट करता है। इसलिए जहाँ-जहाँ श्रीकृष्ण की प्रार्थना की गई है वहाँ वहाँ उन्हें परम कारुणिक के रूप में देखा गया है। वे सभी पर कृपा करते हैं और अपने आचरण तथा व्यवहार से अपनी करुणा और मित्रता से सभी पर अपना स्नेह प्रदर्शित करते हैं।

अपनी ब्रजलीला में भगवान श्रीकृष्ण एक दिन अकेले ही यमुना तट पर जाते हैं। वहाँ पर वे देखते हैं कि यमुना के बीचसे कितना विषाक्त जल निकल रहा है कि उसकी विषाक्तता से यमुना तट के वृक्ष भी जल गए थे। अपनी विशेष लहरों से जब उस जल के बिन्दु ऊपर की ओर उछलते थे तो आस-पास के उड़ने वाले पक्षी भी जल जाते थे। श्रीकृष्ण ने देखा यह तो पूरे यमुना के जल को प्रदूषित कर रहा है जिससे सम्पूर्ण ब्रजवासी यहाँ के पशु-पक्षी यह जल पीकर अपने प्राण खो देंगे। श्रीकृष्ण ने मन में विचार किया कि इसका निग्रह करना मेरा कर्तव्य है। यह सोचकर वे वे यमुना में कूद गए। उन्होंने अपने प्रबल बल से कालिया का दमन किया। जब वह विवश हो गया तो नाग पत्नियों ने श्रीकृष्ण से प्रार्थना की कि हे प्रभु ! आप हमारे पति को मुक्त करने की कृपा करें। इस पर भगवान श्रीकृष्ण ने परम कारुणिक होकर कालिया से कहा- तुम यमुना का निवास छोड़ दो। तुम्हारे रहने से यह जल प्रदूषित हो रहा है और इस प्रदूषण से यहाँ कष्ट है। तुम यहाँ से अपने परिवार सहित जाकर समुद्र में निवास करो, मेरे द्वारा अभय दान दिए जाने के कारण अब से गरुड़ भी तुझे नहीं सतायेगा।[1]

---

१. नात्र स्थेयं त्वया सर्प कदाचिद्यमुनाजले।
सपुत्र परिवारस्त्वं समुद्रसलिलं ब्रज।
मत्पदानि च ते सर्प दृष्ट्वा मूर्द्धनि सागरे।
गरुण: पन्नगारि पुस्त्वयि न प्रहरिष्यति। वि.पु. ५/८/७७-७८

श्रीकृष्ण चरित में ही वे जिस प्रकार से गोप-गोपिकाओं के साथ क्रीड़ा करते हैं वे उनके मैत्री भाव का अनुपम उदाहरण हैं। वे वन में जाते और गोप बालकों के साथ गीत गाते, कभी ध्वनि निकालते और कभी भिन्न वृक्षों के नीचे बैठकर प्रसन्न होते। वे कभी अपने मित्रों के साथ कदम्ब के फूलों की माला धारण करते, कभी अद्भुत वेश बनाते और कभी निद्रा लेने की इच्छा करते हुए वृक्षों के पत्तों पर लेट जाते। ऐसे में यदि उन्हें मेघ का गर्जन सुनाई पड़ता तो परम प्रफुल्लित होकर वे हास्य करने लगते। कभी वे दूसरे ग्वालों के साथ गाना गाते, उनके गाये हुए गीतों की प्रशंसा करते और वंशी लेकर गोपियों के समक्ष अपनी वंशी बजाने लगते। कभी-कभी वे मोरों के झुण्ड में नाचते और मोरों को देखकर किलकारी भरते। इस प्रकार से जब दिन व्ययीत हो जाता तो सभी गोप-ग्वाले मिलकर व्रज में लौट आते और इस प्रकार से अपने मित्रों को मैत्री भाव का परिचय देते।[1] श्रीकृष्ण के चरित्र में पाण्डवों के साथ की गई उनकी मित्रता अनुकरणीय है। कुरुक्षेत्र के युद्ध में, अर्जुन के रथ में सारथी बनकर उसका रथ हाँकना मित्रता का श्रेष्ठ उदाहरण है।

---

१. उन्मत्तशिखिसारंगे तस्मिनकाले महावने।
कृष्णरामौ मुदायुक्तौ गोपालैश्चेरतुस्सह।
\- - - - - - -
क्वचित्कदम्बस्रक्चितौ मयूरस्रग्विराजितौ।
विलिप्तौ क्वचिदासातां विविधैर्गिरिधातुभिः। वि.पु. (२), पृ. १६९

अवगुण-हठ, प्रतिशोध, ईर्ष्यादि :-

विष्णु पुराण में जहाँ एक ओर मनुष्य की उन सद्प्रवृत्तियों का संकेत किया गया है जिससे वह मनुष्य रूप में प्रतिष्ठित होता है वहीं दूसरी ओर उसकी उन दुष्प्रवृत्तियों को सांकेतिक करने का प्रयत्न किया गया है जिससे उसका अधः पतन होता है। अपनी विमाता के द्वारा अपमानित किए जाने पर ध्रुव अपना घर त्याग कर तपस्या के लिए वन जाने का हठ करते हैं और उसकी माता उसे समझाती हुई कहती हैं। अभी तुम्हारी वाल्यावस्था है तुम इस अवस्था में ऐसा कठोर तप नहीं कर सकते। वह पुत्र को समझाती हुई हठपूर्वक कहती हैं कि तुम यदि मेरी बात को न मानकर तपस्या करने गये तो मैं अपने प्राण तुम्हारे सामने त्याग दूँगी।[1] यद्यपि इस स्थिति में ध्रुव का हठ कल्याण का हेतु बनता है और माता द्वारा की गई हठ की बात को वह अस्वीकार कर देता है, फिर भी हठ नामक प्रवृत्ति यहाँ दिखाई देती है।

एक अन्य सन्दर्भ में महर्षि कश्यप और दिति की कथा आती हैं। कश्यप की पत्नियों से हुए दैत्य वंशीय सभी पुत्र समाप्त हो गये थे। बाद में दिति ने कश्यप को प्रसन्न किया और उनसे हठपूर्वक एक ऐसे पुत्र की कामना की जो इन्द्र का वध कर सके।

---

१. वि. प. (१), पृ. १३०-१३१

दिति के हठ के सामने कश्यप विवश हुए और उन्होंने दिति से कहा कि तुम यदि नियम पूर्वक सौ वर्ष तक पवित्रता पूर्वक इस गर्भ का पालन करोगी तो तुम्हें इन्द्र को मारने वाला पुत्र प्राप्त होगा।[1]

हठ की ऐसी प्रवृत्ति को हिरण्यकशिपु और प्रहलाद के चरित में भी देखते हैं। हिरण्यकशिपु हठ पूर्वक यह कहता है कि मैं एक मात्र इस पृथ्वी का स्वामी हूँ और मैं ही ईश्वर हूँ। प्रहलाद इसके विपरीत ईश्वर की भक्ति की स्थापना करते हैं और हिरण्यकशिपु के द्वारा पीड़ित किए जाने पर भी हठपूर्वक भगवत्भक्ति करते हैं और स्वयं को भगवान का भक्त बतलाते हैं। इसी तरह कंस कृष्ण के मारने का हठ नहीं छोड़ता और इसके लिए वह स्वयं के प्राणों का दाव लगा देता है।

इसी प्रकार से हम प्रतिशोध की प्रवृत्ति को भी देख सकते हैं। कंस का प्रतिशोध भयानक है वह जब आकाशवाणी से सुनता है कि देवकी के गर्भ से उत्पन्न होने वाला आठवाँ पुत्र उसका वध करेगा तो वह वसुदेव और देवकी को कारागार में डाल देता है और देवकी के छह पुत्रों का वध कर देता है। ऐसा करते हुए उसे किसी तरह की ग्लानि नहीं होती।[2]

उसे जब यह ज्ञात होता है कि उसे मारने वाला बालक रूप में कहीं अन्यत्र जन्म ले चुका है तो वह अपने अनुचर सैनिकों से कहता है कि पृथ्वी पर जो भी बालक उत्पन्न हुए हों और वे यदि जरा भी बलवान दिखाई दें तो उनका वध कर देना चाहिए।[3]

---

१. वि.पु. (१), पृ. २३२
२. वही ४/१५/२६
३. तस्माद् बालेषु च परो यत्नः कार्यो: महीतले।
यत्रोदूरिक्तं बलं बाले सः हन्तव्यः प्रयत्नतः। वही, ५/४/१३

इस रूप में कंस का प्रतिशोध का भाव बड़ा ही भयावना दिखता है। इसी तरह से इन्द्र को यह जब ज्ञात होता है कि दिति के गर्भ में कश्यप से जो पुत्र है यदि उसने जन्म ले लिया तो वह कश्यप की तपस्या के प्रभाव से मेरा वध कर देगा। इसलिए उसने प्रतिशोध प्रदर्शित करते हुए दिति के गर्भ को उञ्चास खण्डों में खण्डित कर दिया और दिति के गर्भ को समाप्त कर दिया। यह भी प्रतिशोध की भावना का एक अद्‌भुत उदाहरण है।[1]

इसी प्रकार से ईर्ष्या के मनोभाव के संकेत प्राप्त होते हैं। एक कथानक में सौभरि नामक ऋषि का कथानक प्राप्त है जिसमें वे जल में तपस्या करते हुए एक मत्स्य के परिवार को देखते हैं और तब उसके सुख को देखकर ईर्ष्या से भर उठते हैं। फलस्वरूप वे विरक्ति का आश्रम छोड़कर गृहस्थ आश्रम स्वीकार कर लेते हैं।[2]

इसी प्रकार सुरुचि और सुनीति का आख्यान भी ईर्ष्या का आख्यान है जिसमें सुरुचि ईर्ष्या वश ध्रुव का अपमान करती हैं। श्रीराम के चरित में भी हम यह देख सकते हैं कि उन्हें कैकेयी के ईर्ष्या के कारण अपना राज छोड़ना पड़ा था। इस रूप में मनुष्य के अन्दर जो अन्य क्रोध आदि दुर्गुण हैं उनके संकेत भी इस पुराण में यत्र तत्र देखे जा सकते हैं।

---

१. वि. प. (१), पृ. १३०-१३१

२. वही, पृ. ५०१

(क) शरीर, मन, आत्मा की मान्यता का नैतिक दर्शन :-

विष्णु पुराण में सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम में यह बताया गया है कि विष्णु की सृष्टि के आदि मूल भूत तत्व हैं और उनसे जो सृष्टि हुई वह प्रकृति के माध्यम से पंच महाभूत स्वरूप हुई। पृथ्वी, आकाश, जल, वायु और तेज स्वरूप इस सृष्टि में व्यक्त तत्व कहे गये हैं। जीवों का जो प्रत्यक्ष शरीर है वह पंच भूतात्मक है। इनमें अव्यक्त रूप आत्मा एक है और वह सभी बाह्य शरीरों में समान रूप से व्याप्त है। विष्णु पुराण ने जो संकेत किया है उसके अनुरूप अव्यक्त रूप एक आत्मा के बाहय स्वरूप में अनेक शरीर दिखाई देते हैं। ये सभी शरीर विविध कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। जब शरीर और आत्मा के भेद को जान लिया जाता है, तब ये नष्ट हो जाते हैं। सूक्ष्म भूत आत्मा और स्थूलस्वरूप शरीर तभी तक भेद भाव से दिखाई देते हैं जब तक ज्ञान पर अविद्या का आवरण पड़ा रहता है। अविद्या का आवरण हटते ही देह की स्थिति नष्ट हो जाती है और शुद्ध बुद्ध चैतन्य रूप आत्मा ही शेष रह जाती है।[1] इस रूप में शरीर का और उसके स्वरूप का जो संकेत किया गया है उससे यह ज्ञात होता है कि शरीर स्थूलभूत है और यह परिवर्तित होता हुआ समय पर नष्ट हो जाता है।

एक अन्य सन्दर्भ इस तरह का प्राप्त होता है जिसमें जड़ भरत एक राजा की पालकी में लगे हुए हैं। जब राजा पालकी की गति को विषम रूप से देखता हैं तो वह ब्राह्मण को सम्बोधित करता हुआ यह कहता है कि तुम इस भार को ठीक से क्यों नहीं ढ़ो रहे हो। देखने में तुम मोटे ताजे हो।

---

१. वि. पु. (१), पृ. ३५०

फिर इतना परिश्रम क्यों नहीं कर पा रहे हो। ब्राह्मण ने उत्तर दिया कि न मैं मोटा ताजा हूं और न तुम पालकी में बैठे हो। तुम्हारा देह ही केवल पालकी में रखा हुआ है और मेरा देह उस पालकी को उठाये हुए है। यथार्थ में तो तुम और में दोनों शरीर रूप से दोनों भिन्न-भिन्न हैं। तुम और अन्य सभी प्राणी पञ्चभूत से वहन किये जाते हैं। यही भूत वर्ग गुणों के द्वारा प्रवाहित होता है।[1]

इस सन्दर्भ में भी हम यही देख सकते हैं कि यहाँ पर जिस देह का वर्णन किया गया है वह पञ्चभूतात्मक है और वह समय पर नष्ट होता रहता है।

एक प्रकरण महर्षि ऋभु और उनके शिष्य निदाघ का प्राप्त होता है। निदाघ महर्षि के प्रिय शिष्य थे। वे जब एक बार अपने शिष्य के यहाँ गये तो राजा निदाघ ने अपने घर पर आये हुए आचार्य को देख कर प्रसन्नता पूर्वक उनका स्वागत किया और उन्हें विविध प्रकार का भोजन करा कर तृप्त किया। महर्षि द्वारा भोजन किये जाने पर राजा ने कहा कि आप भोजन से संतुष्ट हैं। क्या मेरा भोजन प्राप्त कर के आपको तृप्ति हुई? इसके उत्तर में ऋषि ने कहा-राजन भूख और तृप्ति मेरा स्वभाव नहीं है। यह तो देह का धर्म है और उसे ही भूख लगती हैं और वही तृप्त होता है। उन्होंने कहा कि जब मैं भूखा ही नहीं हूँ तो मेरे तृप्त होने का प्रश्न कहाँ उत्पन्न होता है? जो खाद्यन्न कभी किसी देह को तृप्त करता है वही बाद में उसी के लिए अरुचि कारक और अतृप्त का हेतु बन जाता है।[2]

---

१. वि. प. (१), पृ. ३४०
२. क्षुद्र तृष्णे देह धर्माख्ये न ममैते यतो द्विज। वही, पृ. ३५३

महर्षि ऋभु के इसी कथन के तारतम्य में मन के स्वरूप का कथन भी किया गया है, और इस कथन में यह बताया गया है कि आत्मा मन से भिन्न है। मन से स्वस्थता और सन्तुष्टि का अनुभव किया जा सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि स्वस्थता और तृप्ति मन के धर्म हैं।[1]

एक अन्य स्थान पर पुराणकार ने स्वर्ग और नर्क, पाप और पुण्य, सुख और दुख, ईर्ष्या और क्रोध के विषय में यह वर्णन किया है कि इस संसार में कोई भी वस्तु न निरन्तर सुख देने वाली है और न निरन्तर दुख देने वाली है। कभी किसी वस्तु से एक क्षण के लिए सुख की प्राप्ति होती है तो कभी दूसरे क्षण वही वस्तु दुख की हेतु बन जाती है। पुराणकार कहते हैं कि इस प्रकार से सुख और दुख की अनुभूति केवल मन का विकार है। मन जिसमें सुखी होता है, वह वस्तु सुखात्मक प्रतीत होने लगती है और मन जिसमें दुखी होता है वह वस्तु दुखात्मक प्रतीत होने लगती हैं। इसलिए सुख-दुख की हेतु वस्तु न होकर मन है। वही सुख की अनुभूति करता है, वही दुख की अनुभूति करता है।[2]

मन के संकल्प विकल्पवान होने के कारण यह कहा गया है कि मन यदि शुद्ध संकल्प वाला होता है तो उससे अन्तः करण शुद्ध होता है। उससे श्रेष्ठ ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत यदि मन शुद्ध संकल्प वाला नहीं होता है तो शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।[3]

---

१. मनसः स्वस्थता तुष्शिचन्त धर्माविमौ द्विज।
चेतसो यस्य तत्पुच्छयुमानेभिर्न पुज्यते। वि.पु. २/१५/२२

२. मनः प्रीतिकरः स्वर्गो नरकस्ताद्विपर्ययः।
नरकस्वर्गसंज्ञे वै पापपुण्ये द्विजोन्तम। वही २/६/४४

३. वही, पृ. ८०

श्रीमद् भगवत गीता में एक स्थान पर यह कहा गया है कि मन ही एक मात्र ऐसा कारण है जो मनुष्य को बन्धन में भी बाँधता है और उसे मुक्ति तक ले जाता है।[1] विष्णु पुराण में भी मन के विषय में इसी तरह का सन्दर्भ दिया गया है जिसमें यह निरूपित किया गया है कि मन ही ऐसा है जो व्यक्ति के लिए बन्धन करने वाला और मुक्त करने वाला है। इस विषय में वहाँ यह निरूपण है कि जब यह मन विषयों में आसक्त होता है तो बन्धन कारक हो जाता है और जब यह विषयों का त्याग करता है तब यह मुक्ति का हेतु बन जाता है।[2]

देह और मन की अवस्थाओं तथा स्वरूपों का वर्णन करने के साथ-साथ आत्मा के स्वरूप का वर्णन भी विष्णु पुराण में किया गया है। यद्यपि विष्णु को परम परमात्मा मानना और उन्हीं से सम्पूर्ण जगत की स्थिति को स्वीकार करना इस पुराण का उद्देश्य है। फिर भी आत्मा के वर्णन के स्वरूप में उसे वासुदेव कहकर यह कहा गया है कि वह सदा है। वही इस जगत में सर्वत्र व्याप्त है, सम्पूर्ण जगत उसी में वास करता है इसलिए वह वासुदेव है। वह अपरब्रह्म अजन्मा है, नित्य स्वरूप है, अक्षय है और गुणों से रहित निर्गुण स्वरूप है।[3]

---

१. भ. गी. ५/१०

२. मनएव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासंगि मुक्त्यै निर्विषयं मनः। वि.पु. ६/७/२८

३. सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वैततः।
ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते। वही १/२/१२

जड़भरत ने सौवीर नरेश को उपदेश करते हुए यही कहा था कि संसार के समस्त कार्य कलाप अविद्या से उत्पन्न होते हैं। अविद्या से पृथक् आत्मा शुद्ध कभी न क्षरण होने वाला, गुणरहित और प्रकृति से परे है। आत्मा का कभी क्षय नहीं होता है। वह सदा एक रूप में रहता है।[1]

एक सन्दर्भ में विष्णु को परमात्मा रूप में मानते हुए उन्हें इस प्रकार का कहा गया है जैसा आत्म स्वरूप का वर्णन है। वहाँ पर यह कहा गया है कि उस प्रभु का न आदि है और न अन्त है। न उसकी कभी वृद्धि होती है और न उसका कभी क्षय होता है वह सदा एक रूप है।[2]

इस रूप में जो नैतिक और सांस्कृतिक संकेत ग्रहण किया जा सकता है वह यह है कि शरीर उत्पन्न और विनष्ट होने वाला है जबकि मन संकल्प-विकल्प के स्वरूप वाला है। आत्मा नित्य, व्यापक और विभु है। इसलिए उसका ज्ञान और उसकी अवधारणा ही नीति तथा संस्कृति है।

---

१. **आत्मा शुद्धोऽक्षरः शान्तो निर्गुणः प्रकृतेः परः।**
प्रवृद्ध्यो पचयो नास्य एतस्याखिलजन्तुषु। **वि. पु. २/१३/७१**

२. **वही ६/८/५९**
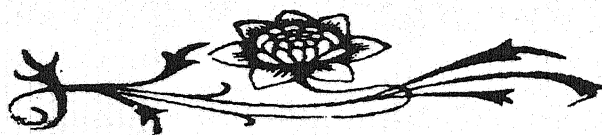
चतुर्थ अध्याय

(विष्णु पुराण में राजनीति एवं अर्थनीति)

चतुर्थ अध्याय

(विष्णु पुराण में राजनीति एवं अर्थनीति)

किसी एक आचार्य ने 'मात्स्य न्याय' का संकेत कहीं पर किया है और इसका अभिप्राय यह दिया है कि समुद्र में हर एक मत्स्य जो बड़ा और सक्षम होता है अपने से छोटे मत्स्य को खा जाता है और इस तरह वह बड़ा मत्स्य निरन्तर बड़ा होता रहता है जब कि छोटा मत्स्य उसका भोजन बना रहता है। उस विद्वान् ने इसी तरह से यह लिखा है कि पृथ्वी पर भी ऐसा ही होता है। यदि प्रारम्भ में ही राजा की कल्पना न की गई होती तो राजा की कल्पना के अभाव में हर समर्थ व्यक्ति असमर्थ का शोषण करता और समर्थ व्यक्ति असमर्थ व्यक्ति को जीने तक नहीं देता। इसीलिए प्रारम्भ से ही सामाजिक सन्दर्भ में समाज की व्यवस्था के लिए राजा की कल्पना की गई और उसी के साथ यह नियम भी संकेतिक किये गये कि राजा का धर्म प्रजा की रक्षा करना है। जिस व्यक्ति को उच्च पद पर बैठा कर उसकी पूजा की जाती है और उसे सर्व श्रेष्ठ माना जाता है, सम्पूर्ण प्रजा की रक्षा करने का दायित्व उसके ऊपर आ जाता है। इसलिए वही राजा प्रतिष्ठित होता है, वही यशस्वी होता है जो अपना उत्तरदायित्व पूरा करने के लिए अपने सुख, अपने स्वार्थ समृद्धि के लिए अपने प्राणों तक की चिन्ता नहीं करता। जो राजा इस प्रकार का आचरण करते हैं वे अपने अधिकार का दुरुपयोग करते हैं और राजपद से प्राप्त होने वाले यश से भी वंचित हो जाते हैं। इसलिए प्रजा की रक्षा करना प्रजा की हित चिन्तन में स्वयं को समर्पित कर देना राजा का सर्वश्रेष्ठ गुण है। ऐसा करता हुआ राजा पृथ्वी में पूरी तरह प्रतिष्ठित होता है।

(क) विष्णु पुराण का शासक वर्ग :-

विष्णु पुराण में दो स्थानों पर ऐसे संकेत हैं जहाँ पर राजवंशों के प्रारम्भ होने के संकेत हैं। प्रथम संकेत इस प्रकार का है जिसमें यह कहा गया है कि विष्णु ने प्रसन्न होकर जगत कर्ता ब्रह्मा की उत्पत्ति की और उस ब्रह्मा ने अपनी छाती से रजोगुण युक्त जो क्षत्रिय उत्पन्न किये वही प्रजा पालन के लिए नियुक्त किये गये। बाद में उन्होंने भृगु, पुलस्ति नामक मानस पुत्रों को जन्म दिया और उसी के साथ भूति समभूति कन्या उत्पन्न की। बाद में ब्रह्मा जी ने स्वायंभू मनु शतरूपा को जन्म देकर इनसे राजवंश का संचालन किया। स्वायंभू मनु और शतरूपा से ही प्रियव्रत और उत्तानपाद हुए जिनसे राजवंश चला।[१] एक दूसरे संदर्भ में मैत्रेय ने जब ऋर्षि पराशर से यह प्रश्न किया कि महाराज मैं राजवंशों की परम्परा सुनना चाहता हूँ तो उत्तर में महर्षि पराशर जी ने कहा कि जिस वंश के आदि कर्ता ब्रह्मा जी हैं जो वंश शूर वीरों का है तथा जो यज्ञों के द्वारा प्रतिष्ठित होते हैं ऐसे मनु वंश का वर्णन सुनो।

पराशर जी ने कहा कि इस सम्पूर्ण जगत के आदि कारण विष्णु हैं उन्हीं भगवान से सर्वप्रथम ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए। उन ब्रह्मा जी के दायें अँगूठें से दक्ष प्रजापति उत्पन्न हुए। दक्ष से अदिति, अदिति से विवश्वान मनु की उत्पत्ति हुई।[२]

---

१. वि. पु. (१), पृ. ८४

२. तद्यथा सकल जगतादिभूतस्य........।
भगवान् विष्णुः तस्य ब्रहमणो मूर्तरूपः हिरण्यगर्मो ब्रहमाण्ड भूतो.......।
विवस्वतो मनुः। वही ४/१/६

मनु वंश का वर्णन करते हुए पुराणकार ने यह लिखा है कि मनु ने मित्रावरुण की प्रसन्नता के लिए एक यज्ञ का आयोजन किया। राजा की इच्छा थी कि इस यज्ञ से उन्हें पुत्र की प्राप्ति हो किन्तु यज्ञ की विधि विपरीतता आने से राजा का पुत्र न होकर पुत्री हुई। जिसका नाम इला रखा गया। बाद में इला और बुध से पुरुरवा नाम का एक पुत्र हुआ। उसी पुरुरवा की सन्तानें मनु वंश को विस्तार दे सकीं। इसके पश्चात् नाभाग, वत्शप्रीति, प्रांश, चाक्षुष, अतिविभूति, करन्धम्, मरुत की परम्परा से इस वंश का विस्तार हुआ। महर्षि पराशर ने कहा कि मरुत ने जैसा यज्ञ किया वैसा यज्ञ अभी तक किसी के द्वारा नहीं किया गया है। उनके द्वारा किए गए यज्ञ में सभी याज्ञिक वस्तुयें स्वर्ण से निर्मित थीं और सुन्दर थीं। मरुत ने उस यज्ञ में सोम के द्वारा तथा प्रभूत दक्षिणा देकर ब्राह्मणों को तृप्त किया था। इसी क्रम में आचार्य ने यह लिखा है कि मरुत से नरिष्यन्त नामक पुत्र का जन्म हुआ। नरिष्यन्त से दम और दम से राजवर्धन का क्रम चला। बाद में इस वंश परम्परा में विशाल नाम का एक राजा हुआ जिसकी परम्परा में उत्पन्न हुई संतति दीर्घायु और बलवान हुई। इस परम्परा में एक अद्भुत उल्लेख यह है कि इसमें रैवत नाम का राजा कई युगों तक अपनी रेवती के साथ ब्रह्मलोक में रहा और बाद में ब्रह्मा जी की ही आज्ञा से उन्होंने यदु वंश में उत्पन्न हुए बलराम जी के साथ रेवती का विवाह किया।[१]

---

१. ताम् रेवती रैवतभूप कन्या सीरायुधोऽसौ विधिनोपिएमे।
दत्वार्थ कन्यां स नृपो जगाम हिमालयं वै तपसै नृपात्मा।
वि. पु. ४/१/९६

एक दूसरे संकेत में विष्णु पुराण में इक्ष्वाकु राजवंश का वर्णन आया है। इस वंश के प्रथम पुरुष के उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह कथा है कि छींकते समय मनु की नासिका से इक्ष्वाकु नामक पुत्र की उत्पत्ति हुई। उनके सौ पुत्रों में विकुक्षि, निमि और दण्ड ये तीन प्रमुख पुत्र थे। आगे चलकर इनकी परम्परा में पचास पुत्र हुए जिनमें से उत्तरापद और दक्षिणापद के अधिकारी हुए। इस वंश में पुरञ्जय नाम का एक राजा था जिसने देवताओं और दैत्यों के युद्ध में देवताओं का पक्ष लिया था और जिसके शरीर में स्वयं विष्णु ने प्रवेश कर के युद्ध किया था। यह परम्परा आगे चली और परम्परा में युवनाश्व नाम का एक राजा हुआ जिसने अज्ञान वश यज्ञ का मन्त्र पूत जल पी लिया था। उस जल के पान करने से इस राजा के गर्भ से एक पुत्र हुआ जिसका पालन पोषण विष्णु ने किया। जिसका नाम मान्धाता हुआ।

मान्धाता इतना अधिक पराक्रमी और शूर वीर था कि उसके विषय में यह कहा गया कि जहाँ से सूर्य उदित होता है और जहाँ अस्त होता है वहाँ तक मान्धाता का राज्य है। बाद में इसी मान्धाता की पुत्रियों से सौभरि नाम के महर्षि ने विवाह किया था।[१] इस प्रकार से यह एक दूसरा राजवंश है। जिसकी लम्बी परम्परा है और जिस परम्परा में अनेक शूर वीर राजा हुए जिन्होंने प्रजा की रक्षा करते हुए अनन्त काल तक पृथ्वी पर शासन किया।[२]

---

१. वि. पु. (१), पृ. ४८६-५१२

२. शत्रुषड्वर्गमुत्सृज्य जामदग्न्यो जितेन्द्रियः।
अम्बरीषश्च नाभागोबुभुजाते चिरं महीम् ।। कौ. अ., पृ. २२

(ख) राजा के गुण-दोषः-

विष्णु पुराण में राजा के गुणों और राजा के दोषों का कथन किया गया है। यद्यपि अधिकतर राजाओं का चरित्र ऐसा दिखाई देता है कि वे प्रजा के साथ दुर्व्यहार करते हैं और उसका पालन-पोषण ठीक से नहीं करते हैं। राजा के गुण और दोषों के सम्बन्ध में कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है कि राजा को विद्यावान होना चाहिए और उसे प्रजा का पालन नीति पूर्वक करना चाहिए। यदि राजा इस प्रकार का व्यवहार करता है तो उससे न केवल प्रजा सुखी रहती है अपितु राजा को त्रिवर्ग की प्राप्ति भी होती है।

विष्णु पुराण में संकेततः अनेक ऐसे राजाओं का चरित्र है जिनके सदाचरण से उस राज्य का वातावरण अत्यधिक सुसयंमित और शान्त है। शाकद्वीप के राजा भव्य का ऐसा ही राज्य था जिसमें वहाँ की नदियाँ पवित्रता पूर्वक बहती थीं। सभी के पापों का क्षय करती थीं और किसी को भी उस राज्य में भय तथा कष्ट नहीं था। जिन्होंने स्वर्ग का फल भोग लिया था और वहाँ से अवतरित होकर पृथ्वी पर आये थे वे प्रसन्नतापूर्वक राजा भव्य की राज्य की नदियों का जल पीते थे और आनन्द का अनुभव करते थे।[1]

---

1. नद्यश्चात्र महापुण्याः सर्वपापभयाप्रहाः।
   सुकुमारी कुमारी च नलिनी वेनुनी च या।
   – – – – – – –
   महीधरास्तथा सन्ति शतशोऽथ सहस्रशः।
   ताः पिवन्ति मुदा जलदादिषु ये स्थितः।
   वर्षेषुते जनप्रदाः स्वर्गादिभ्येति मेदिनीम्।
   धर्महानिर्न तेष्वस्ति न संघर्ष परस्परम्।   वि.पु. २/४/६५-६८

विष्णु पुराण में राजा भव्य की राजधानी में रहने वाले बंग, मागध, मानस तथा मदंग चार वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में वहाँ निवास करते थे। राजा के राज्य की शासन नीति का यह फल था कि सभी अपना-अपना कर्म सम्पादित करते थे औरइसके साथ ही साथ वे सूर्य के सदृश प्रकाशक भगवान् विष्णु की उपासना करते थे।[१]

शाकद्वीप की प्रशंसा करते हुए महर्षि पराशर ने कहा कि पुष्कर द्वीप के राजा महावीर और घातक ऐसे ही राजा थे जहाँ के निवासी न तो किसी रोग से पीड़ित थे, न उन्हें किसी प्रकार का शोक था और न ही वे आपस में किसी से ईर्ष्या तथा द्वेष का भाव रखते थे। राजाओं के सुशासन का यह प्रभाव था कि वहाँ के निवासी दस हजार वर्ष तक निरापद होकर जीवन धारण करते थे। महर्षि पराशर ने मैत्रेय को सम्बोधित करते हुए कहा कि हे मैत्रेय ! उन राजाओं का ऐसा पुण्य प्रताप था जिसके कारण न किसी को किसी के प्रति ईर्ष्या थी, न किसी के मन में किसी प्रकार का लोभ था और न ही कोई किसी प्रकार के भय से त्रसित था। इस रूप में राजा के सदाचरण से और उसके नैतिक राज्य व्यवहार से पूरी प्रजा आनन्द का अनुभव कर रही थीं।[२]

---

१. मर्यादाव्युत्क्रमो नास्ति तेषु तेषु च सप्तम्।
बंगश्च मागधश्चैव मानसा मन्दगास्तथा।
..........सम्यककर्मभिर्नियतात्मभिः। वि.पु. २/४/६८-७१

२. दशवर्षसहस्त्राणि तत्र जीवन्ति मानवाः।
- - - - - - -
नेर्ष्यासूया भयं द्वेषो दोषो लोभादिको न च। वही २/४/७६-८०

एक सन्दर्भ में वेन के पुत्र पृथु का चरित्र आया है। वेन ने जब यह घोषित किया कि किसी को भी अब दान, यज्ञ, हवन आदि नहीं करना है तब ऋषियों ने रुष्ट होकर उसका वध कर दिया। बाद में राजा के न रहने पर चारों ओर धूल उड़ने लगी, समाज की पूरी की पूरी व्यवस्था भंग हो गई। कोई किसी का रक्षक नहीं रहा और न ही किसी की श्रद्धा रही। जो असहाय और असमर्थ थे उन्होंने चोरी करना, सम्पन्न लोगों को लूटना प्रारम्भ कर दिया। तब ऋषियों ने वेन के दाहिने हाथ का मंथन किया। इससे प्रज्वलित अग्नि के समान देंदीप्यवान एक पुरुष उत्पन्न हुआ।

विष्णु पुराण में यह संकेत किया गया है कि जैसे उसके पिता ने प्रजा को अप्रसन्न किया था उसी तरह से राजा पृथु ने अपनी सम्पूर्ण प्रजा को प्रसन्न किया। प्रजा को प्रसन्न किए जाने के कारण पृथ्वी यथार्थ में सार्थक हुई और राजा भी अपने पद से सार्थक हुआ।[1]

बाद में उस राजा की प्रशंसा के लिए सूतों को नियुक्त किया गया जिन्होंने राजा के विषय में यह कहा कि यह राजा सत्यवादी है, मर्यादा रक्षक है, दानशील है, क्षमावान है, पराक्रमी है और दुष्टों पर शासन करने वाला है। अर्थात् यह राजा अपने पराक्रम से प्रजा की रक्षा करता है और सत्य भाषण सहित दान देने में दक्ष है। राजा का यही परम गुण है कि वह दुष्टों पर शासन करे और सज्जनों को निर्भय करे।[2]

---

१. पित्रोपरंजिताः तस्य प्रजास्तेनानुरंजिताः।
अनुरागात् ततस्तस्य नां राजेत्यजायत। वि.पु. १/१३/४८

२. सत्यवाग्दानशीलोऽयं सत्य सन्धो नरेश्वरः।
ह्रीमान् मैत्रः क्षमाशीलो विक्रमः दुष्टशासनः। वही १/१३/६१
तुलनीय–आपन्नस्य विषयनिवासिनो जनस्यार्तिहरेण
राज्ञा भवितव्यमित्येष वो धर्मः। अ.शा., पृ. २४५

सूतों ने राजा की प्रशंसा करते हुए कहा कि ये राजा धर्मज्ञ है, कृतज्ञ है, दयालु है और मीठा बोलने वाला है। यह उन व्यक्तियों को सम्मान देने वाला है जो सम्मान के योग्य हैं और जो इसके योग्य नहीं है उसका सम्मान करने वाला नहीं है। राजा ने इस प्रकार की अपनी प्रशंसा सुनकर मन में यह निश्चय किया कि मैं इसी प्रकार के गुणों को अपने जीवन में धारण करुँगा। बाद में जब उसे यह ज्ञात हुआ कि पृथ्वी की कठोरता के कारण उसकी प्रजा कष्ट में है तो उसने पृथ्वी पर कठोरता की और अपने प्रताप से जहाँ जहाँ पृथ्वी समतल नहीं थी वहाँ वहाँ पर पृथ्वी को समतल किया। जब पृथ्वी समतल नहीं थी तब अन्न आदि की उत्पत्ति भी पर्याप्त मात्रा में नहीं होती थी, इसलिए कन्दमूल का भोजन करके प्रजा अपना काम चलाती थी। जब राजा ने गो रूप में पृथ्वी का दोहन किया तो उसने सभी प्रकार की औषधियाँ प्रदान कीं और पृथ्वी से सभी प्रकार के अन्न उत्पन्न होने लगे। राजा पृथु के राज्यकाल के पूर्व न ग्राम थे, न नगर थे और न ही निवासियों के लिए किसी प्रकार की व्यवस्था थी। राजा पृथु ने जब भूमि को समतल किया तो ग्राम, पुर और नगर आदि की व्यवस्था भली प्रकार से हुई जिसमें रहकर प्रजा सुख का अनुभव करने लगी।[1]

---

१. न सस्यानि न गोरक्ष्यं न कृषिर्न वणिक प्रथा।
वैन्या प्रभृति मैत्रेय सर्वस्यैनस्य सम्भवः।
\- - - - - - -
तत्र तत्र प्रजाः सर्वा निवासं समरोचयन्।
\- - - - - - -
सस्य जातानि सर्वाणि प्रजानां हितकाम्यया। वि.पु. १/१३/८३-८८

इसी प्रकार का एक सन्दर्भ राजा सहस्त्रबाहु का भी प्राप्त होता है। उसमें यह कहा गया है कि वह राजा कृतवीर्य का पुत्र होने के कारण कार्तवीर्य नाम से जाना गया। उसने भगवान् के अंश दत्तात्रेय की आराधना की और इतना अधिक पराक्रम माँगा जिससे वह सहस्त्रबाहु के रूप में भी विख्यात हुआ। उस राजा ने अपने द्वारा शासित पृथ्वी पर किसी प्रकार का अधर्म का आचरण नहीं होने दिया। उसने अपने बल का प्रयोग धर्म के शासन के लिए किया। वह इतना पराक्रमी था कि सम्पूर्ण भूमण्डल पर विजय प्राप्त करके शत्रुओं से अजेयता प्राप्त की और प्रजा पर कभी भी अन्याय नहीं किया। उसने प्रजा का पालन करते हुए अपने राज्य में दस हजार यज्ञ किये। उसके विषय में कहा गया है कि राजा कार्तवीर्य के समान यज्ञ में, दान में, तपस्या में और विन्रमता में कोई नहीं हुआ है।[१]

इस रूप में यहाँ पर जिन राजाओं के राज्य कार्य का संकेत किया गया है वे सभी पराक्रमी किन्तु प्रजा के पालन में तत्पर रहने वाले थे। वे सदा अपनी नीति और न्याय से प्रजा का पालन करते रहे। इसलिए पुराणों में उन्हें सद्गुणी राजा के रूप में गिना गया है। इनके सद्गुणों का ही यह प्रभाव था कि इनकी प्रजा सदा सुखी और सन्तुष्ट रही।

---

१. न नूनं कार्तवीर्यस्य गतिं यास्यन्ति पार्थिवाः।
यज्ञैः दानैः तपोर्भिवा प्रश्रयेण श्रुतेन च।। वि.पु. ४/११/१६

जहाँ एक ओर राजाओं के गुणों का विष्णु पुराण में आख्यान किया गया है वहीं ऐसे अनेक राजाओं का वर्णन है जो दुष्ट प्रकृति के थे। घोर अहंकारी थे और प्रजा को कष्ट देने वाले थे। ऐसे राजाओं में से वेन, कंस, हिरण्यकशिपु आदि गिनाये गये हैं। हिरण्यकशिपु की क्रूरता तो यहाँ तक थी कि उसने अपने पुत्र तक के प्राण लेने में संकोच नहीं किया। उसके पुत्र प्रहलाद ने अपने पूर्व कर्म के वशीभूत होकर अपने पिता से कहा कि-हे पिता! भगवान विष्णु सभी के कल्याणकारी हैं और वे सर्वत्र व्याप्त हैं। प्रहलाद ने कहा पिता जी वे आदि, मध्य और अन्त से रहित हैं। वही सृष्टि के उत्पत्ति कर्ता, पालनकर्ता और प्रलयकर्ता हैं। इस पर हिरण्यकशिपु ने उसे अपने अनुकूल शिक्षित करने के लिए आचार्यों को दे दिया और कहा कि मूर्ख! मेरे अतिरिक्त भला कौन दूसरा ईश्वर हो सकता है। तू बार-बार जिसका गुणगान कर रहा है वह मेरा विरोधी है। ऐसा करके तू भला मृत्यु के मुँह में क्यों जाना चाहता है?

इस रूप में कह करके राजा ने प्रहलाद को राज्य के आचार्यों के यहाँ शिक्षा देने के लिए भेज दिया। किन्तु प्रहलाद के स्वभाव में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ। तब हिरण्यकशिपु अत्यधिक क्रोधित हो गया और उसने राज्य के अनुचरों को आज्ञा प्रदान की कि तुम जाओ और अत्यन्त विषाग्नि रूप वाले सर्पों से इसके पूरे शरीर को कटवाओ। राज्य के अनुचरों ने ऐसा ही किया। किन्तु प्रहलाद की प्रवृत्ति में फिर भी कोई अन्तर नहीं आया। प्रहलाद के पिता हिरण्यकशिपु इससे और अधिक क्रोधित हुए और उन्होंने महावतों को आज्ञा दी।

तुम इसे हाथियों के पैरों के नीचे कुचल डालो। प्रहलाद का इस पर भी बाल बाँका नहीं हुआ। बाद में प्रहलाद को अग्नि में डलवाया गया, पहाड़ के नीचे फिंकवाया गया और यहाँ तक कि हिरण्यकशिपु स्वयं ही प्रहलाद को मारने के लिए तैयार हुआ। किन्तु प्रहलाद हर स्थिति में सुरक्षित रहा।

जिस रूप में हिरण्यकशिपु का वर्णन किया गया है उस रूप में वह एक अहंकारी और पर उत्पीड़न करने वाला राजा है। स्वयम् को ईश्वर समझता है और अपने विपरीत किसी से भी कुछ नहीं सुनना चाहता है। उसका पुत्र जब उसके विरुद्ध बोलता है तो वह पुत्र के विरुद्ध इतनी अधिक कठोरता का व्यवहार करता है कि वह अपने पुत्र का वध करने के लिए स्वयं तैयार हो जाता है। इस रूप में यह राजा अपने पुत्र के साथ ही ऐसा कठोर आचरण कर रहा है तो भला वह प्रजा के प्रति कितना कठोर नहीं होगा। प्रहलाद के माध्यम से विष्णु पुराणकार ने संकेत किया है कि राजा को साम, दाम, दण्ड और भेद नीति से राज्य करना चाहिए। उसे ऐसा विवेक रखना चाहिए कि वह न किसी से द्वेष करे और न ही किसी के प्रति अधिक अनुराग वाला हो। उसकी दृष्टि सभी के प्रति समान भाव वाली होवे।[१]

---

१. सामं च प्रदानं च भेद दण्डौ तथापचौ।
उपायाः कथिताः सर्वं भिक्षादीनां च साधने।।
\- - - - - - -
तस्माद्येतत पूर्णेषु य इच्छेत् महतीं श्रियम् ।
यतितव्यं समत्वे च निर्वाणमपि चेव्छता।।

वि० पु० १/१६/३५,४६

दूसरा एक राजा वेन है। उसका आचार और व्यवहार भी इस प्रकार का है जिससे वह दुष्ट राजाओं के रूप में विष्णु पुराण में उल्लिखित है। उसने जैसे ही राज पद प्राप्त किया वैसे ही अपने राज्य में घोषणा करवा दी कि मैं यज्ञ पुरुष हूँ। मैं ही यज्ञ का भोक्ता और स्वामी हूँ। अब कोई भी मेरे अतिरिक्त न किसी की पूजा करेगा न किसी को दान देगा और न किसी की प्रार्थना करेगा।

उसके इस व्यवहार और कथन को सुन कर कुछ ऋषियों ने उसे समझाते हुए कहा कि राजन जिसके राज्य में यज्ञ पुरुष भगवान् का पूजन होता है उसकी सभी अभिलाषाऐं पूर्ण हो जाती हैं। यह सुन कर राजा वेन ने कहा कि मेरे बराबर कौन है ? ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, पृथ्वी और चन्द्रमा जो भी हैं वे सभी राजा में निवास करते हैं। इस लिए राजा सर्वदेव मय होता है। मैं जो कहता हूँ उसे सावधानी से सुनो और परम धर्म मानकर उसका उसी प्रकार से पालन करो जिस प्रकार से कोई पतिव्रता स्त्री अपने पति की आज्ञा मानकर उसका पालन करती है।[१] इस रूप में राजा वेन एक अहंकारी और दुष्ट राजा ही हुआ क्योंकि उसके इस स्वभाव से समाज में अराजकता फैल गई, पृथ्वी अन्न और औषधियाँ नहीं देती थी। सम्पूर्ण प्रजाजन भूख से पीडित हो गये थे, और रोग ग्रस्त हो रहे थे। यह राजा के राज्य का कुप्रभाव था।

---

१. अराजके नृप श्रेष्ठ धरित्रया सकलौषधी।
ग्रस्तास्तथा क्षयं यान्ति प्रजाः सर्वाः प्रजेश्वरः।
वि.पु. १/१३/६७

विष्णु पुराण में कंस के अन्याय और अत्याचार का वर्णन विस्तार से किया गया है। उसके मानसिक दुर्गुण का स्वरूप तो तब प्रकट होता है जब वह राज सत्ता के लोभ में अपने पिता को ही कारागार में डाल देता है। उसे ऐसा करने में किसी तरह का संकोच नहीं होता। इसी प्रकार से जब उसे आकाशवाणी के माध्यम से यह ज्ञात होता है कि उसकी बहिन के गर्भ से उत्पन्न होने वाला बालक उसकी मृत्यु का हेतु बनेगा तब वह विवाह कर के अपने गृह जाती हुई बहिन को मारने में संकोच नहीं करता। जब उसके बहनोई उसे यह वचन देते हैं कि वे अपनी सभी सन्तानों को कंस को दे देंगे तो वह उन्हें कारागार में डाल देता है। बाद में वह अपनी बहिन से उत्पन्न होने वाले छह पुत्रों को क्रमशः मरवा देता है और सातवीं कन्या के बध करते समय जब उसको यह ज्ञात होता है कि उसका बध करने वाला अन्यत्र कहीं उत्पन्न हुआ है तो वह अपने अनुचरों को यह आज्ञा देता है कि वे उस समय उत्पन्न हुए उन सभी बालकों का वध कर दें जो स्वस्थ हों और बलशाली प्रतीत हो रहे हों।[१]

इस रूप में यह राजा भी दुष्टतम राजा के रूप में दिखाई देता है जो छोटे बालकों का बध कराने में भी संकोच नहीं करता। निश्चित रूप से ऐसे राजा के राज्य में प्रजा पीड़ित होती होगी और ऐसे दुष्ट राजा से पृथ्वी भी भयाक्रान्त हुई होगी। राजाओं के द्वारा जब इस प्रकार के अनर्थकारी काम किये जाते हैं तो निश्चित रूप से प्रजा पीड़ित होती है। प्रजा को पीड़ित करने वाला राजा दुष्ट राजाओं की श्रेणी में ही आता है। राजाओं के ऐसे चरित्र ही उनके दोष कहे जाते हैं।

---

१. वि. पु. (२), पृ० १४८-१४६

(ग) शासन की ऋजुता :-

'आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः'– यह पंक्ति राजा दुष्यन्त से कण्व के आश्रम में निवास करने वाले ऋषि कुमारों ने कही थी जिसमें उन्हें यह संदेश दिया गया था कि पुरु वंश के राजा आपत्ति में पड़े हुए जनों रक्षित करने वाले यज्ञ में दीक्षित होते हैं। यह उस समय का प्रसंग है जब राजा दुष्यन्त शिकार के लिए जाता हुआ आश्रम के पालित मृग को मारने की चेष्टा करता है। तब ऋषिकुमार कहते हैं कि राजन ! आपका वंश तो आपत्ति में पड़े हुए जन की रक्षा करने वाला है। जो निरपराध हैं उनका वध करने वाला स्वभाव आपके वंश का नहीं है।[१]

कालिदास द्वारा लिखित अभिज्ञान शाकुन्तलम् के इस सन्दर्भ से हम यह संकेत प्राप्त कर सकते हैं कि शासक का रक्षक स्वभाव ही उसकी नीति है और इसी नीति के अनुरूप जब वह चलता है तो उसकी नीति ऋजुता की नीति होती है। क्षत्रियों ने प्राचीन समय में इसी प्रकार का आचरण किया है और देव प्रवृत्ति की रक्षा के लिए अपने प्राणों तक का बलिदान करने में कभी भी संकोच नहीं किया है। पौराणिक परम्परा में अनेक ऐसे कथानक हैं जिनमें सामान्य जन की रक्षा के लिए क्षत्रिय वंश के राजाओं ने अपने जीवन का बलिदान किया है। महर्षि दधीचि की कथा इसी रूप में देखी जा सकती है जिसमें वृत्रासुर के बध के लिए उनकी अस्थियों की याचना की जाती है और प्रत्युत्तर में वे अपनी अस्थियाँ देने में किंचित मात्र भी संकोच नहीं करते हैं।[२]

---

१. अ० शा०, पृ० २०९

२. भा. म. पु., पृष्ठ ३२७-२८

विष्णु पुराण में जिन राज्य वंशों का वर्णन किया गया है उन राज्य वंशों में अनेक राजा ऐसे हुए हैं जिन्होंने अपने शासकीय व्यवहार से अपने जीवन की चिन्ता न कर प्रजा की रक्षा के लिए अपना सब कुछ समर्पण कर दिया। दुष्टता के आचरण वाले वेन को जब ऋषि गण क्रोध पूर्वक समाप्त कर देते हैं और उसके बाद राज रहित पृथ्वी की रक्षा के लिए उसकी भुजा को मथ कर पृथु को उत्पन्न करते हैं और उससे ऋषि गण कहते हैं कि तुम भली प्रकार प्रजा का पालन करो तो वह अपने मन में यह विचार करता है कि मैं यह जानता ही नहीं हूँ कि प्रजा का पालन किस प्रकार करना चाहिये। इस लिए वह ऋषियों से प्रार्थना करता है कि आप मुझे उपदेश दें और मन में यह विचार करता है कि ऋषि गण जैसा उपदेश करेंगे मैं वैसा बनने का प्रयत्न करूंगा।

राजा पृथु की प्रशंसा की गई तो यह कहा गया है कि वह सत्य बोलने वाला है, प्रजा का पालन करने वाला है। वह धर्म का आचरण करने वाला है, दयालु है। वह इस प्रकार का आचरण करता है जिसमें जो सम्मान प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं वे ही सम्मान प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं जो सम्मान प्राप्त करने वाले नहीं होते हैं उन्हें राजा की ओर से कभी भी सम्मान नहीं मिलता। वह राजा ऐसा है जो सभी के प्रति समान दृष्टि रखता है। ऐसा राजा अपने आचरण से प्रजा को भी श्रेष्ठ आचरण वाला बना देता है। इस प्रकार के अपने आचरण से तब राजागण ऐसा व्यवहार करते थे जिससे दुष्ट को दुष्टता करने के बदले में दण्ड मिलता था और जो सज्जन होते थे वे अपनी सज्जनता के रूप में पुरस्कृत होते थे।

राजा पृथु ने जब प्रजा को अन्न आदि सम्पत्तियाँ न देने वाली पृथ्वी से कहा कि मैं तुम्हारा बध करुँगा क्योंकि तुमने प्रजा का उत्पीड़न किया है और तुम प्रजा के लिए सुखकारी नहीं हो। तब पृथ्वी ने कहा महाराज ! मैं स्त्री हूँ यदि आप मेरा वध करेगें तो आप को स्त्री के वध करने का पाप लगेगा। क्या आप इस पाप से भयभीत नहीं हैं। क्या आप मेरा वध करने के बाद यह नहीं समझते कि एक स्त्री का वध करना स्त्री हत्या का अपराध है।

इस प्रसंग ने राजा पृथु ने अपनी नीति को स्पष्ट करते हुए यह कहा कि जहाँ पर एक अनर्थ करने वाले के वध से अनेकों का सुख प्राप्त होता हो वहाँ पर उस एक का वध कर देना ही नीति है। यही नीति श्रेयस्कर है। राजा की नीति का उद्देश्य सर्वजन हिताय होता है और उसमें यदि कोई एक बाधक बनता है तो उसका वध करना भी राजा की ऋजुता की नीति में आता है।[1] पृथ्वी ने पूछा कि प्रजा के हितार्थ यदि आप मेरा वध करते हैं तो आप प्रजा को कैसे धारण करेंगे। तब राजा ने कहा कि मैं स्वयं को प्रजा के अनुरूप बनाकर प्रजा का हित चिन्तन करुँगा।

इस रूप में जो राजा की नीति स्पष्ट होती है उसके अनुरूप राजा की राजनीति का लक्ष्य केवल प्रजा ही है और प्रजा जिस प्रकार से प्रसन्न हो वही राजा की ऋजु नीति होती है।

---

१. एकस्मिन् यदि निधने प्राप्त दुष्टकारिणि।
बहुनां भवति क्षेमं तदपि पुण्यप्रदो बधः। वि.पु. १/१३/७४

सभी प्रकार के प्रयत्न करने के बाद भी प्रहलाद को हिरण्यकशिपु अपने इच्छित मार्ग में नहीं ला पाया और उसने प्रहलाद के शिक्षकों के द्वारा शिक्षा दिये जाने के बाद पूछा कि बताओ कि राजा को अपने मित्रों के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। वह शत्रुओं के प्रति कैसा व्यहार करें और जो न शत्रु हैं और न मित्र हैं अर्थात् मध्यस्थ हैं उनके प्रति कैसा व्यवहार करें। उसने पूछा कि राजा को अपने मंत्रियों के साथ, बाहर नियुक्त किए जाने वाले सेवकों के साथ, अपने अन्तःपुर में नियुक्त भृत्यों के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। इसी प्रकार से प्रहलाद की शिक्षा को जानने के लिए राजा ने पूछा कि गुप्तचरों के साथ और सामान्य नागरिकों के साथ राजा किस प्रकार का व्यवहार करे जिससे कि उसका राज्य कार्य विधिवत् संचालित हो सके। हिरण्यकशिपु ने कहा कि प्रहलाद इसके साथ तू यह भी बता कि राजा करने योग्य कार्यों का सम्पादन किस प्रकार करे और जो कार्य करने योग्य नहीं हैं उनका परिहार किस प्रकार करे। इस सब के उत्तर में प्रहलाद ने यह कहा था कि महाराज जिसे महान बनने की आंकाक्षा हो और जो मुक्ति का लाभ भी चाहता हो उसे समत्व भाव का अभ्यास करना चाहिए।[१] अर्थात् उसे सभी के प्रति समता की दृष्टि रखनी चाहिए। सम्भवतः राजा के लिए इससे बढ़कर और कोई दूसरी ऋजुता की नीति नहीं हो सकती। राजा जब अपने इस दृष्टि कोण से राज्य का

---

१. मित्रेषु वतर्ते कथमरिवर्गेषु भूपतिः।
प्रहलाद त्रिषुलोकेषु मध्यस्थेषु कथमचरेत्।
\- - - - - - -
तस्माद्यतेत पुण्येषु य इच्छेन्महतीं श्रियम्।
यदितव्यं समत्वे च निर्वाणमपि चेच्छत। वि.पु. १/१६/२६, ४६

संचालन करेगा और सभी के प्रति समता का भाव रखेगा तो न केवल उस राजा का राज्य विधिवत् संचालित होगा अपितु उसकी प्रजा उस राजा के प्रति पूरी तरह समर्पित रहेगी। राजा अपनी इस नीति के द्वारा न किसी को शत्रु समझेगा न किसी को मित्र मानेगा। उसकी दृष्टि में सम्पूर्ण प्रजा एक जैसी होगी और तब राजा जहाँ अपराधी होने पर शत्रु को दण्ड देगा वहीं पर समान अपराध किये जाने पर वह मित्र को भी दण्ड देने में संकोच नहीं करेगा। जो राजा अपने राज्य को नैतिक रूप से संचालित करना चाहते हैं वे इसी प्रकार से शत्रु और मित्र के साथ समान व्यवहार करने का प्रयत्न करते हैं। और इसी समत्व नीति के कारण अपना यश विस्तारित करने की चेष्टा करते हैं। किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के रचनाकार भारवि ने दुर्योधन के चरित्र वर्णन में इसी प्रकार का संकेत किया है। दुर्योधन ने यद्यपि पाण्डवों का राज्य अनीति पूर्वक प्राप्त किया था किन्तु वह यह जानता था कि जब तक समता की दृष्टि से राज्य का संचालन नहीं करेगा तब तक वह प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सकेगा। इसलिए उसने शत्रु और मित्र के प्रति समान व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया था।[१] यह राजा की समनीति है और उसे प्रजा में प्रतिष्ठित कराती है। इसे ही राजा की ऋजुता की नीति कहा जा सकता है।

---

१. वसूनि वाञ्छन्न वशी न मन्युना
स्वधर्म इत्येव निवृत्तकारणः।
गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा
निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम्।। कि., पृ. ६०

एक आख्यान में एक राजा शतधुन का संकेत किया गया है। इस कथानक में यह संकेत है कि राजा ने एक बार एक ऐसे व्यक्ति के साथ सम्भाषण किया था जो पाखण्ड का आचरण करने वाला था तो इसके फलस्वरूप उसे मनुष्य योनि के बाद पशु और पक्षी की योनि में जन्म लेना पड़ा था। उसकी पत्नी अपने धर्म के मार्ग में चलने के कारण यह सब जानती थी इसलिए उसने अपने ज्ञान के बल पर राजा का उद्धार किया था। बाद में राजा ने अपनी उस पत्नी के साथ विवाह किया और बहुत समय तक धर्मपूर्वक राज्य किया। न्याय और नीति से प्रजा का पालन किया।[१] इसमें राजा ने धर्म के आचरण का त्याग नहीं किया तथा कोई भी ऐसा कार्य नहीं किया जो न्याय संगत न हो। वहाँ पर यह संकेत किया गया है कि जो आचरणहीन व्यक्ति हो उनके साथ कभी भी व्यवहार नहीं करना चाहिए। यह नीति न केवल सामान्य नीति है अपितु राजा के लिए भी व्यवहार करने योग्य है।

इसी प्रकार का एक सन्दर्भ राजा मान्धाता का है। एक बार उनके दरबार में सौभरि नाम के ऋषि पहुँचे और उन्होंने राजा से कहा कि मैं विवाह करना चाहता हूँ। इसलिए आप अपनी एक कन्या मुझे दें। ऋषि वृद्ध थे और विवाह योग्य नहीं थे किन्तु यह देखकर भी राजा ने उन ऋषि पर क्रोध नहीं किया। अपनी ऋजुता की नीति के माध्यम से कन्याओं की सहमति से उन ऋषि के साथ विवाह कर दिया। यह उदारता और ऋजुता की राजा की नीति ऋजुता की नीति ही कही जायेगी।[२]

---

१. राज्यं भुक्त्वा यथा न्यायं पालयित्वा बसुन्धराम्।
तत्याज स प्रियान्प्राणान् संग्रामे धर्मतो नृपः। वि.पु. ३/१८/६१

२. वही, पृ. ५०५

(ड) राजा प्रजा का नैतिक एवं आचारात्मक सम्बन्धः-

मनुस्मृतिकार ने यह लिखा है कि श्रेष्ठजन जो जो आचरण करता है शेष समाज के लोग उसी का अनुकरण करते हैं इसलिए राजा जो जो आचरण करते हैं वही वही आचरण प्रजा भी करती है। इसलिए प्राचीन परम्परा में राजा के लिए श्रेष्ठ आचरण करने का निर्देश दिया गया है।[1]

विष्णु पुराण में राजा और प्रजा के बीच सम्बन्धों को व्याख्यात किया गया है और उस सम्बन्ध में राजा के लिए नीतिवान होने का तथा प्रजा के लिए सदाचरण पालन करने का निर्देश किया गया है। एक स्थान पर साधु व्यक्तियों का लक्षण करते हुए यह कहा गया है कि सत् शब्द का अर्थ साधु होता है। जो साधु का आचरण है वह सदाचार कहा जाता है। इसका अर्थ है सत् अर्थात् साधु और साधु का आचरण ही सदाचरण है। जिस सम्बन्ध में यह बात कही गई है वहाँ पर यह बात कही गई है कि जो सदाचरण का पालन करता है वह लोक और परलोक में सफलता प्राप्त करता है। सत् व्यक्ति वह है जिसमें दोषों की न्यूनता है। इस सदाचार का पालन करने वालों में जहाँ ऋषियों के नाम दिए गए हैं वहाँ पर मनु और प्रजापतियों के नाम दिए गए हैं और यह कहा गया है कि मनुवंशी राजाओं ने सदाचार का पालन किया है।[2]

---

१. एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षरेन् पृथिव्यां सर्वमानवः।। म. स्मृ. १/२०, भ.गी. ३/२१

२. साधवः क्षीण दोषास्तु सच्छन्दः साधु वाचकः।
तेषामाचरणं यस्तु सदाचारः सउच्यते। वि.पु. ३/११/३

एक दूसरे स्थान पर राजाओं के लिए और प्रजा के लिए समान रूप से उपदेश देते हुए राजा सगर को सम्बोधित करते हुए महर्षि और्व ने जो कहा उसका सन्दर्भ यह है कि कल्याण की कामना करने वाले अपने अपने वर्ण धर्म के अनुकूल आचरण करते हैं। कोई भी अपने लिए निर्धारित कर्म से विरत नहीं होता है और न ही दूसरे के लिए निर्धारित कर्म करता हुआ अपने धर्म का परित्याग करता है। महर्षि और्व ने कहा- हे सगर! जो किसी की निन्दा नहीं करता, जो किसी के साथ कभी भी मिथ्या भाषण में प्रवृत्त नहीं होता और जो किसी के लिए भी कटु बचनों का प्रयोग नहीं करता वह सदाचारी है और भगवान् केशव सदा उस पर प्रसन्न रहते हैं। इसी प्रकार से हे राजन्! जो कभी किसी को पीड़ित नहीं करता और निरपराधी की हिंसा से विरत रहता है, वह भी भगवान् केशव की प्रसन्नता प्राप्त करता है।[१] इस प्रकार से जो किसी को पीड़ित करने में विश्वास नहीं करता और न ही अपनी हिंसा के द्वारा किसी को कष्ट पहुँचाता है वह राजा और प्रजा का नैतिक तथा आचारवान् व्यवहार कहा जा सकता है।

---

१. वर्णाश्रमाचारवतां पुरुषेणेह यः पुमान्।
विष्णुराध्यते पन्था नान्यस्ततत्तोषकारकः।।

\- - - - - - -

परापवादपैशुन्यं अनृतं चापि न भाषते।
अन्योद्वेगकरं वापि तोष्यते तेन केशवः।।

\- - - - - - -

न ताऽयति नो हन्ति प्राणिनोऽन्याश्च देहिनः।
यो मनुष्यो मनुष्येन्द्र तोष्यते तेन केशव।। वि.पु. ३/८/९, १३,१५

महर्षि और्व ने कहा- राजन! जो भी कोई गुरुजनों की सेवा में सदा निरत रहता है, ब्राह्मणों का यथोचित् आदर करता है, वही अपने कर्म के द्वारा ही श्री केशव को प्रसन्न कर लेता है, इसी प्रकार से वह राजा अपना परम श्रेय पा लेता है जो अपनी प्रजा का पालन उसी प्रकार से करता है जैसे कोई अपने पुत्र का पालन करता है। राजा के अतिरिक्त भी जो कोई सभी प्राणियों का हित चिन्तन उसी प्रकार से करता है, जैसे कोई अपनी संतान का हित चिन्तन करता है, तो वह भी अपना कल्याण प्राप्त कर लेता है। इसके साथ ही साथ जो इन अपने बाहय आचरणों के अतिरिक्त अपने मन को निर्मल रखता है, वह भी अपना कल्याण प्राप्त कर लेता है। मन को निर्मल और विकार रहित बनाने का यही उपाय है कि व्यक्ति राग और द्वेष से निरपेक्ष रहे।[1]

---

१. देवद्विजगुरुणां च शुश्रूषासु सदोद्यतः।
तुष्यते तेन गोविन्द पुरुषेण नरेश्वरः।।
\- - - - - - -
यथात्मनि च पुत्रे च सर्व भूतेषु यस्तथा।
हितकामो हरिस्तेन सर्वदा तोष्यते सुखम्।।
\- - - - - - -
यस्य रागादि दोषेण न दूयते नृप मानसम्।
विशुद्धचेतसा विष्णुस्तोष्यते तेन सर्वदा।। वि.पु. ३/८/१६-१८

एक स्थान पर यमराज तथा उसके दूत का संवाद दिया गया है और उसमें यमराज ने यह कहा है कि जो विष्णु के अभक्त हैं मैं उनका स्वामी हूँ इसलिए तुम विष्णु भक्तों को मेरे लोक में लाना। यमराज के सेवक के द्वारा जिज्ञासा व्यक्त किए जाने पर सदाचार का जो स्वरूप वहाँ पर यमराज ने संकेतित किया वह राजा तथा प्रजा के ऊपर समान रूप से लागू होता है। वहाँ पर यमराज ने कहा कि जो कभी भी अपने वर्ण तथा आश्रम के कर्तव्य रूपी धर्म से विचलित नहीं होता और सदा अपने लिए निर्धारित कर्म करता है वह स्वच्छचित्त वाला मनुष्य होता है। इसी तरह से जिसके मन में मित्र के प्रति अत्यधिक राग नहीं होता और शत्रु के प्रति अत्यधिक द्वेष नहीं होता वह भी एक प्रकार से विष्णु भक्त होता है।

यमराज ने कहा कि हे दूत! जो पुनीत चरित्र वाला है सभी प्राणियों का हित चिन्तन करने वाला है, कभी किसी का अपमान नहीं करता और जो अभिमान से रहित है। उसके चित्त में स्वच्छता होती है और भगवान् विष्णु का निवास होता है। वह संसार के लिए सौम्य रूप वाला हो जाता है और उसके मन में किसी प्रकार का भ्रम तथा विकार नहीं रहता है।[1] यह चरित्र और व्यवहार चाहे राजा के लिए हो अथवा उसकी प्रजा के लिए हो, सभी के लिए पालनीय है और यही वह सूत्र है जो राजा और प्रजा के बीच में निरन्तर सौमनस्य का भाव बनाये रखता है। यदि राजा इस प्रकार का व्यवहार नहीं करता तो प्रजा भी उसके अनुरूप नहीं होती और तब राजा तथा प्रजा के बीच नीति परक तथा आचारपरक सम्बन्धों का अभाव होता है जो समाज के लिए भी शुभ लक्षण वाला नहीं होता है।

---

१. वि.पु. (१), पृ. ३६५-३६७

पौराणिक काल में नीति एवं आचारपरक व्यवहार का बहुत अधिक मूल्य था। इसलिए सदाचार पालन करने के लिए ऐसे आख्यान दिये गये हैं जिनमें यह बताया गया है कि यदि किसी भी व्यक्ति ने, चाहे वह राजा ही क्यों न हो, नीति का पालन नहीं किया और अपने सदाचार से च्युत हुआ तो उसे बहुत बड़ा कष्ट भोगना पड़ा। एक कथानक ऐसा है कि शतधन की पत्नी शैव्या ने सतधर्म का पलान किया किन्तु राजा संकोच वश ऐसा न कर सका। एक बार राजा के पास उनके धुनर्वेद के आचार्य के मित्र पधारे। वे यथार्थ में पण्डित न होकर बहुत बड़े पाखण्डी थे। राजा और रानी यह जानते थे। रानी ने उसे पाखण्डी समझते हुए उसके प्रति उपेक्षा का व्यवहार किया और किसी प्रकार का संकोच नहीं किया। राजा ने यह विचार किया कि यह आचार्य भले ही पाखण्डी हैं किन्तु मेरे गुरु के मित्र हैं इसलिए मुझे इसका आदर करना चाहिए। ऐसा विचार कर राजा ने उसका आदर किया। जबकि रानी ने उसकी उपेक्षा की। बाद में राजा को अपने इस असद् आचरण के कारण अनेक योनियों में जन्म लेना पड़ा और बाद में वे अपनी पत्नी के पुण्य प्रताप से मनुष्य योनि में आ सके।[१]

इस कथानक का स्पष्ट संकेत है कि व्यक्ति के लिए सत् आचरण करना ही उसके लिए कल्याणकारी है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसे व्यक्तिगत कष्ट होने के साथ-साथ सामाजिक रूप से भी उपेक्षा प्राप्त होती है। राजा शतधन के कथानक में ऐसा ही हुआ और उसे अपने असत् आचरण का फल भोगना पड़ा।

---

१. वि.पु. (१), पृ. ४७७-४८१

विष्णु पुराण के अनुसार सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति में विष्णु ही परम हेतु हैं। उन्होंने प्रजापति के माध्यम से देव, असुर, पिता और मानवों की रचना की। इस रचना में नित्य और अनित्य स्थावर और जंगम सम्पूर्ण सृष्टि जाल सम्मिलित था। इस क्रम में वहाँ पर यह कहा गया है कि पूर्व सृष्टि में उस समय जिसके जैसे कर्म थे उसकी उत्पत्ति उसी के अनुरूप हुई। जो हिंसक थे, वे हिंसक स्वभाव को प्राप्त हुए जो अहिंसक थे उन्होंने अहिंसा का स्वभाव पाया। जिनके मन में कोमलता का भाव था वे कोमल स्वभाव वाले बने और जो पूर्व में कठोर भाव वाले थे वे कठोरता को धारण करने लगे। इसी तरह से धर्म का व्यवहार करने वाले धर्मधारक बने और अधर्म का आचरण करने वाले अधर्म के पथ पर चलने लगे। जो सत्य का अनुकरण करते थे वे अपर जन्म में भी सत्यवादी हुए और जो असत्य के अनुयायी थे उन्होंने असत्य का आश्रय लिया।

सृष्टि उत्पत्ति के इस क्रम में और मनुष्यों के द्वारा आचरण किए जाने वाले भावों में कर्म की महत्ता दी गई है। अर्थात् इसमें यह संकेत किया गया है कि जो जिस प्रकार की प्रवृत्ति का आश्रय लेता है वह उसी प्रकार का कर्म करने लगता है। इस सृष्टि में दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं जिसमें एक प्रवृत्ति को सत्प्रवृत्ति और दूसरी को असत् प्रवृत्ति कहा जा सकता है। वेदानुसार सत्प्रवृत्ति से समन्वित जो सत्कर्म है वही सत् आचरण भी है। विष्णु पुराण का यह संकेत है कि राजा और प्रजा सभी के लिए आवश्यक है कि वे नैतिक होकर सत् आचरण करें। और इस सत्कर्म के आचरण से समाज को सार्थक रूप से संस्कारित बनावें। राजा और प्रजा के बीच में नित्य सम्बन्धों के स्वरूप का यही एक साधन है।

---

१. वि.पु. (१), पृ. ७६

प्रजापति द्वारा सृष्टि के इस क्रम को जब आगे बढ़ाया गया तो उन्होंने अपने स्वरूप जैसे ही स्वरूप वाले स्वायमूभू मनु की रचना की। मनु को सम्पूर्ण प्रजा के पालन का दायित्व दिया और उन्हें यह निर्देश दिया कि वे न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करें क्योंकि वे ही प्रथम मनु हैं और उन्हीं से मानवीय सृष्टि का विकास होना है।[1] इस उदाहरण में भी राजा के द्वारा प्रजा पालन को नीति के रूप में स्वीकार किया गया है और यही एक ऐसा आचार है, जो राजा के लिए श्रेष्ठ व्यवहार है और जिससे प्रजा के साथ वह सम्बद्ध रहता है। इसी से प्रजा भी राजा के प्रति कृतज्ञ रहती है और सम्पूर्णता के साथ राजा के साथ जुड़ी रहती है।

जड़ भरत के एक आख्यान में राजा सौवीर पालकी से जाता हुआ यह नहीं जान पाता कि यह जड़भरत कौन है। वह समझता है कि यह एक स्वस्थ पुरुष है और जिस पालकी में मैं बैठकर जा रहा हूँ उस पालकी को इसे बहन करना चाहिए। अभ्यास न होने के कारण से जब जड़भरत पालकी ठीक से नहीं दौड़ा पाते तो राजा उनकी भृर्त्सना करता है। राजा कहता है कि तुम इतने मोटे ताजे होकर भी मेरी पालकी ठीक से नही ढ़ो पा रहे हो। तुम्हारी यह देह स्थूल है और मजबूत है इससे तुम्हें परिश्रम से काम करना चाहिए। इसके उत्तर में जड़भरत कहते हैं-राजन! न मैं मोटा हूँ और न स्थूल हूँ, न मेरी यह देह है। यह जो तुम्हें दिखाई दे रहा है वह केवल पंचभूतों से बना हुआ है।

---

१. ततो ब्रह्मात्मसम्भूतं पूर्वं स्वयंभुवं प्रभुः।
आत्मानमेव कृतं प्रजापाल्ये मनुं द्विजः।। वि.पु. १/१७/१६

इसलिए यहाँ पर जो भी काम सम्पादित होते हैं वे पंचभूतों के द्वारा ही सम्पादित किए जाते हैं। उन्होंने कहा राजन! आत्मा इससे पृथक् है, वह शान्त और गुण रहित है। राजा ने जब उस पुरुष की यह बात सुनी तो वह कहने लगा कि आप यह पालकी छोड़ दें। आप मुझे शुद्ध और सात्विक ज्ञान का उपदेश दें तथा यह बतावें कि वास्तव में आप कौन हैं? ऐसा कहकर राजा ने उनका स्वागत किया और उनसे उपदेश ग्रहण किया। श्रेष्ठ और विद्वत्जनों का आदर करना नीति भी है और सदाचरण भी है। जैसे ही राजा सौवीर को यह ज्ञात हुआ कि उसकी पालकी में लगा हुआ यह व्यक्ति सामान्य व्यक्ति न होकर एक महर्षि है जो सत्य को जानता है तब उस राजा ने तुरन्त अपनी गलती स्वीकार कर ली और इस प्रकार एक नीतिपरक राजा का स्वरूप प्रस्तुत किया।[१]

पुराणों में हम प्रारम्भ से ही देवों और दैत्यों से संघर्ष की कथा सुनते आये हैं। यद्यपि देवताओं की तरह दैत्य भी विष्णु के अंश हैं यदि वह दैत्य हुए तो केवल इसलिए कि देव प्रवृत्ति को त्याग दिया। देवों से कहा गया था कि तुम अहिंसा का पालन करो अन्याय का परित्याग करो अपने लिए निर्धारित जो सत् मार्ग है उस पर चलो। देवताओं ने इसका पालन किया। दैत्यों ने इसके विपरीत काम किया। दैत्य कहने लगे कि हिंसा धर्म है इसलिए इसके परिमाण की आवश्यकता नहीं है। ब्राह्मण जो यज्ञ यज्ञादि करते हैं वह सब पाखण्ड का कार्य है इसलिए यज्ञ आदि कर्म भी नहीं करने चाहिए। मोहवश उन्होंने यह भी कहा कि मद्यपान, स्त्री संपर्क और पर धन का ग्रहण किसी तरह से अपकर्म नहीं है।

---

१. वि.पु., पृ. ३४२-३४८

फल यह हुआ कि देवों और दैत्यों में घोर संग्राम हुआ जिसमें दैत्य पराजित हुए और देवों को विजय प्राप्त हुई। पुराणकार ने वहाँ पर यह संकेत किया है कि देवों की विजय उनके पराक्रम से नहीं हुई, अपितु उनके पास स्वधर्मपालन रूपी कवच था जिससे वे दैत्यों से जीत सके। स्वधर्म ही प्राचीन परम्परा में नीति और आचार है जिसका पालन करना ही किसी के लिए सद् आचरण है।[१] आचार्य एक स्थान पर उपदेश करते हुए यह कहते हैं कि जो समर्थ होकर भी अपने लिए निर्धारित कर्म नहीं करता है, वह अपने धर्म से पतित हो जाता है। वहाँ पर यह कहा गया है कि धर्म-पतित व्यक्ति की शुद्धि तभी सम्भव होती है, जब वह व्यक्ति प्रायश्चित्त करे।[२]

एक आख्यान में राजा शान्तनु की चर्चा है। राजा नैतिक नियम के अनुसार अपने भाई देवापि को अपना राज्य देना चाहता था किन्तु देवापि ऐसे आचरण कर रहा था, जो विरुद्ध थे। तब शान्तनु ने देवापि को राज्य नहीं दिया और स्वयं अपने नैतिक व्यवहार तथा सदाचरण से राज्य का पालन किया। उनके ऐसा करने पर उनकी प्रजा पूरी तरह से प्रसन्न हुई और उनका राज्य स्थिर हुआ।[३]

इस रूप में संकेत यह प्राप्त होता है कि किसी भी राजा के लिए यह आवश्यक था कि वह राज्य प्राप्ति के लिए नीति और आचार का पालन करे। राजा के ऐसा करने पर ही प्रजा भी नीति सम्मत व्यवहार करती है और सत् मार्ग पर चलती है।

---

१. वि.पु. (१), पृ. ४७४
२. वही, पृ. ४७५
३. वि.पु. (२), पृ. १०३-१०५

(ङ.) विष्णु पुराण में अर्थ व्यवस्था :-

आचार्य कौटिल्य ने अर्थ को ही पुरुषार्थ माना है। उन्होंने यह लिखा है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में अर्थ की महत्ता सबसे अधिक है। धर्म सम्पादन के लिए अर्थ की अपेक्षा होती है और काम प्राप्ति भी अर्थ पर ही आधारित होती है।[1] मनुष्य के जीवन का उद्देश्य क्या है और उसे इस जीवन में क्या प्राप्त करना है यह विचार यहाँ प्रारम्भ से होता रहा है। इसी के उत्तर में यह कहा गया कि मनुष्य को अपने जीवन में पुरुषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति करनी है। और इसी के लिए उसका जन्म इस पृथ्वी पर हुआ है। अपने जीवन में व्यक्ति को कब क्या करना है इसके लिए आश्रम व्यवस्था की कल्पना की गई थी और उस व्यवस्था में यह कहा गया था कि न्याय पथ पर चलता हुआ अपने श्रम से यथोचित अर्थ को प्राप्त करे। अर्थ प्राप्ति में वह न्याय के पथ से विचलित न हो और जो उसका है वही अंश वह ग्रहण करे। किसी दूसरे के अंश को ग्रहण करने की इच्छा उसे नहीं करना चाहिए। एक उपनिषद् यह कहती है कि इस जगत में जो कुछ भी है वह ईश्वर रूप है किन्तु यहाँ पर रहते हुए वह अपने ही अंश को ग्रहण करे किसी दूसरे के अंश का लोभ वह किसी रूप में भी न करे।[2]

---

१. अर्थ एव प्रधन इति कौटिल्यः। अर्थमूलोहि धर्मकामाविति।।
कौ. अ., पृ. २४

२. ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किंच जगत्यां जगत्। ईशो. १/१

प्राचीन भारत में यदि हम अर्थव्यवस्था के आधार का अन्वेषण करें तो हम यह देखेंगे कि तब के समय में भूमि ही आर्थिक उपलब्धि का आधार थी। भूमि को क्षेत्र के रूप मानकर उसे कृषि कार्य के योग्य बनाया जाता था, और जो कृषि के योग्य होती थी उसमें समय पर बीज बपन किया जाता था। हल चलाने के लिए छह-आठ अथवा बारह बैल नियोजित किये जाते थे। भूमि को कई बार कर्षित करके उर्वरा बनाया जाता था।[1]

हम वैदिक वाङ्मय में देखते हैं कि तब के ऋषियों ने पृथ्वी को देवता मानकर उसकी स्तुति की है। उसे जिस रूप में वर्णित किया है उसमें यह कहा गया है कि यह पृथ्वी हमारी माता है हम इसके पुत्र हैं। भूमि का इतना बड़ा विस्तार है कि इसमें सभी नदियाँ, समुद्र अवस्थित हैं। यह भूमि ऐसी है जिसमें कृषक कर्षण करते हैं और उसी कर्षण से अपने लिए अन्न प्राप्त करते हैं। भूमि का यह महत्व है कि यह सभी प्राणियों का अनेकशः पालन पोषण करती है और सभी प्राणी इसी भूमि में रहकर अपना जीवन धारण करते हैं तथा चलने-फिरने का अवकाश पाते हैं। यह प्रार्थना करके ऋषि अन्न एवं गौ जाति की याचना करते हैं, जिससे यह संकेत मिलता है कि पृथ्वी ही तब अर्थ का आधार थी और गौ जैसे पशु भी आधार देते थे।[2]

---

१. ऋक् ४/६/४८

२. या विभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिः गोप्वप्न्नेदधातु।
अथर्व (२), पृ. ६३४

यद्यपि उपरिलिखित वैदिक मंत्र से इतना ही संकेत लिया जा सकता है कि तब के समय में भूमि और पशु मुख्य रूप से अर्थ के आधार थे। इन्हीं को आधार बनाकर तबका व्यक्ति अपनी जीविका संचालित करता था। वैसे भी जीवन संचालन के लिए अन्न महत्वपूर्ण है और अन्न की प्राप्ति भूमि से होती है इसलिए भूमि महत्वपूर्ण है। किन्तु अन्न की इस महत्ता के साथ-साथ कहीं-कहीं भूमि की प्रार्थना में उससे सुवर्ण की याचना की गई है और संकेत किया गया है कि भूमि के साथ और सुवर्ण आदि भी आर्थिक आधार के कारक थे। इस रूप में यदि भूमि अचल सम्पत्ति के रूप में देखी जा सकती है तो पशु तथा सुवर्ण को चल सम्पत्ति के रूप में गिना जा सकता हैं।[१]

वैदिक समय में जहाँ भूमि को और पशु को मुख्य आर्थिक आधार संकेतित करता है वहीं पर शिकार करके जीविका चलाने का संकेत भी मिलता है। जहाँ ये संकेत प्राप्त हैं वहाँ पर यह वर्णन आया है कि शिकार करने के अभ्यस्त कुत्ते बराह का शिकार करते थे। इस शिकार में जंगली भैंसे और सिंह आदि भी सम्मिलित थे। अर्थात् जहाँ पर बराह का शिकार करने का उद्देश्य है वहाँ पर यह उल्लेख भी है कि तब सिंह आदि के शिकार करने की परम्परा भी थी।[२] इस संकेत से यह भी सम्भव हो सकता है कि तब के समय में सिंह आदि का आखेट करना जीविका संचालन के लिए न हो अपितु आखेट मनोरंजन के लिए किया जाता हो।

---

१. अथर्व (२), पृ. ६११

२. ऋक् २/४२/२, ५/१५/३
अथर्व (१), पृ. ५१६-५१७

वैदिक तथा औपनिषदक परम्परा में आर्थिक सम्बन्ध के जो अन्य संकेत प्राप्त होते हैं उनसे यह ज्ञात होता है कि तब के समय में शिल्प कार्य करके भी कुछ लोग अपनी जीविका चलाते थे। इस प्रकार के कार्यों से अपनी जीविका चलाने वालों में जहाँ कुछ लोग ऐसे थे जो लकड़ी के काम से अपनी जीविका का संचालन करते थे वहाँ दूसरे कुछ लोग धातु के कार्यों से अर्थोपार्जन करते थे। शिल्प कार्य करने वालों में 'कर्मार' शब्द का प्रयोग उनके लिए किया जाता था जो धातु के द्वारा शिल्प कार्य करते हुए अपनी जीविका चलाते थे। धातुओं में अलग-अलग धातुओं के कार्य करने वालों के लिए अलग-अलग संकेत हैं। जैसे कि लोहे के कार्य करने वालों के लिए और उनका परिचय देने वालों के लिए 'अयोहत' शब्द का प्रयोग होता था। इसी तरह जो स्वर्ण आभूषण बनाने का काम करते थे, उनके परिचय देने के लिए 'हिरण्यकार' शब्द का प्रयोग होता था।[१]

वेदोत्तर परम्परा भी इन सबका संकेत किसी न किसी रूप में करती है। यद्यपि वेदोत्तर काल में उपनिषद् कालिक परम्परा जीव और जगत पर विचार करती है, किन्तु इसी के साथ-साथ इस परम्परा में कुछ ऐसे संकेत भी प्राप्त हैं जिनसे तत्कालीन समाज की अर्थ व्यवस्था का संकेत मिलता है। उपनिषदों में अन्न की महत्ता को प्रमुख रूप से स्वीकार किया गया है। यहाँ तक कि वहाँ पर अन्न को प्राण के रूप में निरूपित किया गया है।[२] अर्थात् वहाँ पर यह कहा गया है कि अन्न ही प्राण हैं। इसलिए भूमि से प्राप्त होने वाला जीविका का एक मुख्य साधन तब अन्न ही था।

---

१. ऋक् ८/११२/१, ८/१/२, १/१२२/५

२. अन्नाद् वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवी श्रिताः। अथो अन्नैव जीवन्ति। अन्नं हि भूतानां ज्येष्कम्।........सर्वं वै ते अन्नमाप्नुवन्ति।.......। अन्नाद भूतानि जायन्ते। तै. उ. २/२

अन्न की महत्ता का यह स्वरूप तब था कि उस समय यह कहा गया है कि अन्न से ही प्रजा उत्पन्न होती है। अर्थात् अन्न ही वह महत्वपूर्ण द्रव्य है जिससे सभी की उत्पत्ति होती है और सभी उस पर आधारित हैं। उपनिषद् कहती है कि सभी कुछ उसी पर आधारित है और सभी उसी पर जीवित हैं। जो पृथ्वी का आश्रय लेकर रह रहे हैं वे सब पृथ्वी के आश्रित होने के साथ-साथ अन्न के भी आश्रित हैं। इससे यह कहना सम्भव है कि तब के समय में अन्न ही महत्वपूर्ण था और अन्न ही जीवन का आधार था।[१] तब की जीवन व्यवस्था में अर्थ रूप में भी अन्न को ही प्रथम रूप से स्वीकार किया जाना चाहिए।

अन्न के संकेत के अतिरिक्त लौह कार्य और स्वर्ण के आभूषणों के निर्माण का कार्य भी तब होता था। ऐसे संकेत उपनिषदों में देखने को मिलते हैं। जहाँ लोहे को लेकर तब अनेक प्रकार के कृषि उपयोगी यन्त्र बनते थे वहीं दूसरी ओर लोहे से अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण का भी संकेत है। यह स्वाभाविक है कि अन्न की उत्पत्ति भूमि से होने के कारण कर्षण कार्य के लिए कुछ कृषि यन्त्रों की आवश्यकता हुई हो और तब उनका निर्माण किया गया हो। इसी तरह से धातुओं में स्वर्ण की महत्ता प्रारम्भ से ही स्वीकृत है। स्त्री तथा पुरुष आरम्भिक काल से ही स्वर्ण के आभूषण धारण करते थे इसलिए उपनिषद् काल में स्वर्णाभूषण बनने की परम्परा रही है। इस रूप में यहाँ यह कहना संगत होगा कि प्राचीन भारत में अन्न, पशु, धातुयें आदि के साथ विविध प्रकार के शिल्प कार्य भी आर्थिक आधार देते रहे हैं।[२]

---

१. अन्नाद वैः प्रजाः जायन्ते।
याः काश्च पृथ्वी श्रिताः अथो अन्नेनैव जीवन्ति।

२. ई. द्वा. पु., पृ. २५-२६, २०६

(च) जीविकोपार्जन के साधन :-

व्यक्ति से समाज का गठन होता है। समाज में अपना जीवन जीने के लिए हर एक व्यक्ति कोई ऐसा साधन अवश्य तलाशता है जिससे उसका जीवन चल सके। प्राचीन समय में क्योंकि विकास पूरी तरह से नहीं हो सका था, इसलिए जीविकोपार्जन के कोई विधिपूर्वक व्यस्थित साधन नहीं थे, फिर भी जीवन जीने के लिए समाज में प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसके वर्ण के अनुसार कार्यों का विभाग किया गया था जिससे वह अपना जीवन चला सकता था। इसमें जहाँ एक ओर खेती करने का विधान था, वहीं दूसरी ओर कुछ लोग ऐसे भी थे जो वन में रहकर फल-मूल खाकर अपना भरण-पोषण कर लेता था। किसी के लिए तब यह व्यवस्था थी कि वह भिक्षार्जन करके अपना उदर पूरा कर लेता था और जो आचार्य आदि होते थे, वे भी अपने शिष्य के द्वारा लाई गई भिक्षा से अपना काम चला लेते थे। यद्यपि तब के समाज में व्यापारिक गतिविधियों का बहुत अधिक विकास नहीं हुआ था किन्तु किसी न किसी प्रकार जो वस्तुओं के आदान-प्रदान से एक-दूसरे का काम चलता था वही तब के व्यापार का एक प्रारिम्भक स्वरूप था। इन सब साधनों के अतिरिक्त यह एक बात अवश्य तब के समाज में मान्य थी, कि कोई भी व्यक्ति चाहे जिस प्रकार से अपनी जीविका चलावे, वह न्याय और धर्म का आश्रय कभी नहीं छोड़ता था। वह अपना जीवन न्याय पूर्वक ही चलाता था।

---

१. वि.पु. ३/८/११

तब के समय में वर्णव्यवस्था जहाँ एक ओर समाज के विधिपूर्वक संगठन के लिए निर्धारित की गई थी, वहीं पर इस व्यवस्था के माध्यम से तब व्यक्ति के जीवन संचालन के सूत्र भी दिए गए थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के रूप में ब्राह्मण की जीविका के लिए प्रत्यक्ष में तो कोई निर्देश नहीं थे किन्तु उसके लिए जो कर्तव्य निर्धारित थे, उनसे यह अध्यापन और यज्ञादि के सम्पादन से अपना जीवन चला लेता था। वह निरन्तर शिक्षा देकर और दान प्राप्तकर न्यायपूर्वक अपनी वृत्ति का संचालन करता था। उसके लिए कहा ही यह गया है कि वह यज्ञ कराकर दान प्राप्त करे और पात्रों को शिक्षा देकर न्याय से अपनी जीविका चलावे। इसी प्रकार स्पष्ट रूप में यह निर्देश है कि क्षत्रिय पृथिवी की रक्षा करे, यही उसकी जीविका का एक मात्र साधन है। इस रूप में हम यह समझ सकते हैं कि वह राजा होकर समाज से जो टैक्स पाता है, वही उसकी जीविका का साधन है। प्रजा से प्राप्त धन का उपयोग जहाँ राजा अपनी जीविका के संचालन में करता था, वहीं वह उसी से प्रजा की रक्षा के लिए सभी समय संनद्ध रहता था। वैश्यो के उन सभी साधनों का आख्यान है जिस पर पूरी अर्थव्यवस्था आधारित होती है। जैसे कि खेती का कार्य करना, पशु पालन करना और व्यापार करना। इन कर्मों से वह अपनी जीविका चलाने के साथ-साथ समाज को आधार देता था। शूद्र शिल्पकर्म से अपनी आजीविका चलाते थे।

कृषि एवं पशुपालनादि :-

पूर्व में ही यह संकेत किया जा चुका है कि विष्णु पुराण के समय समाज में अधिक विकास नहीं हो सका था इसलिए भूमि का महत्त्व अधिक था और भूमि के माध्यम से ही कृषि कर्म के द्वारा तब अधिक मात्रा में सभी अपनी जीविका चलाते थे। यह स्वाभाविक है कि कृषि के लिए जल की सर्वाधिक महत्ता है बिना जल के कृषि कार्य की सम्पन्नता की सम्भावना ही नहीं हो सकती। इस सन्दर्भ में एक उदाहरण में यह कहा गया है कि अन्धक नाम के एक वृद्ध ने अक्रूर के पिता के महत्त्व को निरूपित करते हुए कहा था कि वे जब-जब, जहाँ-जहाँ रहे, तब-तब, वहाँ-वहाँ, दुर्भिक्ष, महामारी, अनावृष्टि आदि कभी नहीं हुई। एक बार जब काशिराज के राज्य में वर्षा नहीं हुई, तब उस को वहाँ ले जाया गया था और वहाँ पर वर्षा होने लगी थी।[१] इस सन्दर्भ में यह संकेत किया गया है कि अनावृष्टि से दुर्भिक्ष होता है और जब समुचित वर्षा होती है, तब सुभिक्ष होता है। अन्न की परिपूर्णता के लिए तथा सुभिक्ष की स्थिति के लिए वर्षा की अनिर्वायता आवश्यक है।

वर्षा और कृषि तथ कृषि से प्राप्त होने वाले अन्न की महत्ता और उसकी विशेषता को श्रीकृष्ण द्वारा की गई गोवर्धन पूजा के सन्दर्भ में भी कहा गया है। यहाँ पर यह कहा गया है कि मेघ, जल रूप रस की वृष्टि करते हैं। जो अन्न वर्षा के जल से होता है।

---

१. अस्याक्रूरस्य पिता श्वफल्को यत्र यत्राभूत्तत्र दुर्भिक्षमारिकानावृष्ट्यादिकना भूत्। वि. पु. ४/१५/११५

वही श्रेष्ठान्न कहा जाता है और श्रेष्ठ खाद्यान्न भी होता है। इसी सन्दर्भ में यह कहा गया है कि वर्षा से जो जल प्राप्त होता है, उस जल से तृण उत्पन्न होता है और उसी तृण को खाकर गौएँ तृप्ति का अनुभव करती हैं। इस प्रकार से जब गो वंश तृप्त होता है तो वह पुष्टि को प्राप्त कर बछड़ों वाला होता है और पर्याप्त मात्रा में दूध देता है। जिस भूमि पर वर्षाकालिक मेघ दिखाई देते हैं, वहाँ पर तृण की कमी नहीं होती और तृण की सम्पन्नता से कोई भी क्षुधा से पीड़ित नहीं होता।[१]

इसी सन्दर्भ में यह भी कहा गया है कि कृषि, वाणिज्य और पशुपालन वार्ता नामक विद्या हैं। ब्रजवासियों ने कहा कि इसमें से किसान कृषि के कार्य से अपनी जीविका चलाते हैं। व्यापारी व्यापार के माध्यम से अपनी जीविका का संचालन करते हैं। उन्होंने कहा कि हमारी जीविका गो पालन से चलती है, इसलिए हम गोपालन करते हैं।[२]

---

१. तेन संचोदिता मेघा वर्षत्यन्नमयं रसम्।
तद् वृष्टिजनितं सस्यं वयमन्ये च देहिनः।।
वर्तैयाकोपभुञ्जानास्तर्पयामश्यच देवताः।
क्षीरवत्यश्च इमा गावो वत्सवत्यश्च निवृताः।।
तेन संवर्धितैः सस्यैस्तुष्टाः भवन्ति वै।।
नासत्या मातृणा भूमिर्न बुभुक्षार्दितो जनाः।।
हृश्यते यत्र हृश्यन्ते वृष्टिमन्तो वलाहकाः।। वि.पु. ५/१०/१६-२२

२. वही, पृ. ५/१०/२६

विष्णु पुराण में राजा पृथु की चर्चा में उसके द्वारा समाज हित में किए गए कार्यों का विवरण विस्तार से दिया गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि इसके पूर्व पृथिवी इस योग्य नहीं थी कि उससे अन्न आदि की प्राप्ति हो सके। साथ ही वह समतल न होने से ठीक से संचलन योग्य नहीं थी। इसके पूर्व भूमि के समतल न होने के कारण उसमें कृषि नहीं हुई थी। फल यह था कि अधिकतर मात्रा में लोग फल-मूल खाकर ही अपना कार्य चला लेते थे। कृषि के इस महत्व के साथ तब स्वर्ण, मणि आदि भी आर्थिक रूप से स्वीकृत थीं।[१]

एक संदर्भ ऐसा है जिसमें राजा सत्राजित की चर्चा है। उसने सूर्य की उपासना से स्यमन्तक मणि पायी थी। उसके प्रताप से अनावृष्टि नहीं होती थी, दुर्भिक्ष नहीं पड़ता था। इस रूप में उसका आर्थिक महत्व कम नहीं था। इसी प्रकार से अन्य स्थलों पर अर्थ के रूप में स्वर्णाभूषणों का भी संकेत है।

यहाँ पर एक तथ्य अवश्य ध्यान देने योग्य है कि तब यह कहा गया था कि जो भी धनार्जन हो वह सभी धर्म के अनुकूल हो। धर्म के विपरीत धन का अर्जन करना और उससे किसी भी प्रकार की आर्थिक स्थिति का निर्माण करना उचित नहीं कहा जा सकता था।[१]

---

१. वि. पु. ६/२/२४

(छ) राजनीति तथा अर्थनीति का सामञ्जस्य :-

राजा और उसकी राजनीति के साथ-साथ किसी भी समाज के लिए उसकी अर्थनीति भी उतनी ही महत्त्व पूर्ण है जितना सामाजिक स्थायित्व के लिए राजनीति का सबल होना आवश्यक है। इस रूप में यदि पौराणिक परम्परा का उल्लेख किया जाता है तो हम वहाँ पर यह देखते हैं कि राजाओं के लिए स्पष्ट रूप से यह निर्देश थे कि वे प्रजा के हित चिन्तन में कार्य करें और उनका पूरा का पूरा जीवन प्रजा के लिए ही हो। वे अर्थ का संकलन तो करें किन्तु उस अर्थ से अपने जीवन के उपयोग की सामग्री एकत्रित न कर उससे प्रजा के हित कारक काम ही करें।[१]

विष्णु पुराण में इसीलिए यह कहा गया है कि धर्मानुकूल धन एकत्रित करना ही मान्य है। और उस धन का सदुपयोग ही किसी की भी परिपुष्ट दृष्टि का द्योतक है। धन के एकत्रीकरण का महत्व तो है, किन्तु उस धन का सदुपयोग भी तभी है, जब उसका निवेश बौद्धिक दृष्टि से ठीक से किया जाए। विष्णु पुराण में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि धन के उपार्जन में और उसके संरक्षण में सावधानी रखनी चाहिए। वहाँ पर यह मन्तव्य भी दिया गया है कि धन के उपार्जन और रक्षण में अत्यन्त कष्ट होता है, इसीलिए उसे अनुचित रूप से व्यय करने पर दुःख होता है।[२]

---

१. वि. पु. ६/२/२४

२. वही, पृ० ४५६

धन की तृष्णा हानिकर है, और उससे व्यक्ति के जीवन में बन्धन होता है। इसलिए यदि तृष्णा का त्याग सामान्य व्यक्ति के लिए करना लाभप्रद है तो राजा को भी चाहिए कि वह तृष्णा और लोभ में बंधकर अपने कोष का संग्रह न करे। पुराणकार इसी दृष्टि से ऐसे राजाओं में वेन आदि की कथा का कथन करते हैं जिन्होंने राजनीति के दुरुपयोग से स्वयं को कलंकित किया है और उसके फलस्वरूप भूमि ने ही अन्न आदि की उत्पत्ति बन्द कर दी। तब प्रजा ने उस राजा के विरूद्ध खड़े होकर अपनी चेतना का परिचय दिया। अन्य और भी राजा ऐसे रहे हैं जिन्होंने प्रजा के सुख की उपेक्षा की और अपने ही कर्म से नष्ट हो गये। इसीलिए इस पुराण का स्पष्ट सन्देश है कि राजा की राजनीति और अर्थनीति में सामञ्जस्य होना चाहिए तथा उसकी दोनों नीतियाँ प्रजा के हित सम्पादन वाली होनी चाहिए।
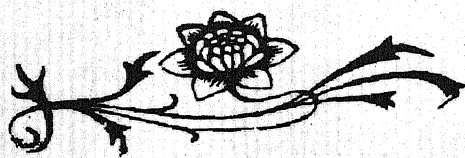
पंचम अध्याय

(विष्णु पुराण में धर्मनीति एवं आचार)
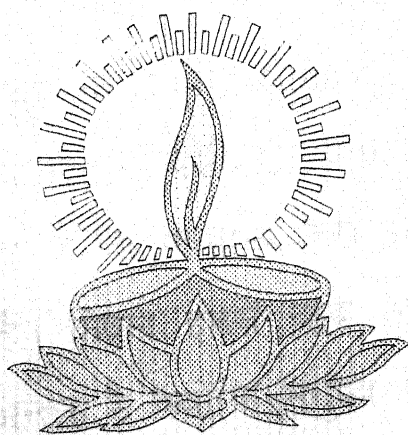
पंचम अध्याय

(विष्णु पुराण में धर्मनीति एवं आचार)

प्राचीन विचारकों ने मनुष्य के सन्दर्भ में और उसके जीवन के विषय में विस्तार से विचार किया है। विचार के केन्द्र बिन्दु में एक अवधारणा इस प्रकार की रही है जिसमें यह कहा गया है कि वह कौन सा विशेष व्यवहार अथवा आचार है जो मनुष्य को पशु से भिन्न करता है क्योंकि आकृति की भिन्नता के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसी भिन्नता नहीं हैं जो मनुष्य को पशु से भिन्न कर सकती है। जहाँ तक प्रवृत्तियों का प्रश्न है तो इस सन्दर्भ में यह देखा गया है कि जैसी मूल प्रवृत्तियाँ पशुओं की होती हैं, वैसी ही मूल प्रवृत्तियाँ मनुष्यों में भी दिखाई देती हैं। जैसे कि आहार, निद्रा, भय और मैथुन की प्रवृत्तियाँ। भूख लगने पर आहार प्राप्त करने की इच्छा जैसी पशु की होती है, वैसी ही इच्छा मनुष्य की भी होती है। निद्रा पशु भी लेता है और बिना निद्रा के वह रह नहीं सकता। इसी तरह से मनुष्य भी निद्रा की इच्छा करता है और बिना निद्रा के वह रह नहीं सकता। किसी सबल से अथवा भयकारक स्थान से पशु को भय लगता है, उसी प्रकार से मनुष्य भी भय का अनुभव करता है। मैथुन की प्रवृत्ति सहज और स्वाभाविक रूप से पशु में होती है तो मनुष्य में भी वैसी ही प्रवृत्ति सहज रूप में होती है। इसलिए यह कहा गया है कि सामान्य रूप से पशु और मनुष्य में कोई बहुत अन्तर नहीं है। केवल इनमें यदि अन्तर है तो वह धर्म की अवधारणा का ही अन्तर है क्योंकि मनुष्य में पशु जैसी प्रवृत्तियाँ होने

के बाद भी धर्म की अवधारणा एक ऐसी अवधारणा होती है, जो पशु में नहीं हो सकती। धर्म के धारण करने से ही मनुष्य मनुष्यता धारण करता है और धर्म की धारणा से ही वह पशु से भिन्न हो जाता है।[१]

एक सूत्र ग्रन्थ में धर्म के विषय में यह निरूपण है कि धर्म श्रौत स्वरूप में, स्मार्त स्वरूप में और शिष्टाचार के स्वरूप में तीन प्रकार से कहा गया है। इसमें धर्म का जो श्रौत स्वरूप है, वह वेदों में विविध यज्ञ-याज्ञादि के रूप में कहा गया है। स्मार्त धर्म के स्वरूप के सम्बन्ध में यह वर्णन है कि यह स्मृतियों में वर्णित है और इसका निरूपण वर्णाश्रम धर्म के रूप में किया गया है। शिष्टाचार धर्म का वह स्वरूप है जिसे सामान्य धर्म कहा जाता है और जिसे अनेक स्थानों में निरूपित किया गया है।[२]

धर्म को लेकर उपनिषदें भी विचार करती हैं और वहाँ पर यह कहा गया है कि इसके तीन स्कन्ध होते हैं। धर्म को यज्ञ रूप में, अध्ययन रूप में और दान के रूप में जानना चाहिए। यज्ञ को वहाँ धर्म का प्रथम स्कन्ध बताया गया है, तप को धर्म का द्वितीय स्कन्ध और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए अपने शरीर को अत्यन्त क्षीण करके आचार्य कुल में रहना और समय व्ययीत करना धर्म का तीसरा स्कन्ध है।[३] इनको धारण किए जाने के कारण ये धर्म हैं।

१. म. भा. शां. २५४/२९

२. बौ. ध. सू., पृ. ५८

३. छा. उ., पृ. २-२७

महर्षि वेदव्यास ने एक स्थान पर धर्म की अवधारणा का संकेत करते हुए लिखा है कि मनुष्य के द्वारा अनेक तीर्थों में जाना, वहाँ जाकर स्नान दानादि से पुण्य प्राप्त करना तथा शुद्ध और सात्विक जीवन व्ययीत करना श्रेष्ठ कर्म हैं। किन्तु इसके साथ ही साथ मनुष्य के लिए यह परम धर्म है कि वह सभी के प्रति अकुटिल बना रहे और किसी के प्रति भी अपने मन में कुटिलता का भाव न लावे। यही एक ऐसा मनोभाव है जो मनुष्य के लिए धर्मरूप हो सकता है।[१]

स्मृतिकारों में आचार्य मनु और महर्षि याज्ञवक्ल्य ने धर्म के जिस स्वरूप का कथन किया है, उसमें मनुष्य के उन सद्‌गुणों का कथन किया गया है जो उसके जीवन के सर्वश्रेष्ठ मनोभाव हैं। धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय, निग्रह, धीरता, विद्या, सत्य और अक्रोध को उन्होंने धर्म के अंकों के रूप में स्वीकार किया है।[२] इस रूप में जो धर्म का स्वरूप बनता है, वह मनुष्य के ऐसे सद्‌गुणों का स्वरूप बनता है जो उसे श्रेष्ठ मनुष्य के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं।

इसी प्रकार से अन्य और भी ऐसे सन्दर्भ हैं जो धर्म की अवधारणा का आख्यान करते हैं और धर्म को एक ऐसे समूह गुण के रूप में निरूपित करते हैं जो मनुष्य का एक विशिष्ट गुण हैं।

१. म. भा. उ. पा. ३/२

२. धृतिक्षमादमोऽस्त्येयंशौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।। म. स्मृ. ६/९२

(क) सामान्य धर्म :-

धर्म की व्याख्या और उसके स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्य कौटिल्य का एक सन्दर्भ बहुत ही सटीक प्रतीत होता है जिसमें उन्होंने यह लिखा है कि प्रत्येक वर्ण और आश्रम के निवासियों के लिए जिन कर्तव्यों का कथन किया गया है, वह कथन तत् तत् वर्णों और आश्रम निवासियों के लिए उनके विशेष धर्म के रूप में जानने चाहिए। अर्थात् जो भी व्यक्ति अपने वर्ण में उत्पन्न हुआ अपने आश्रम में रहता हुआ अपने लिए निर्धारित शास्त्र सम्मत कर्तव्यों का निर्वाह करता है, वही उसके लिए उसके विशेष धर्म कहे जाने चाहिए। ऐसा इसलिए है कि व्यक्ति अपने विशेष वर्ण में और अपने विशेष आश्रम में रहता हुआ अपने विशेष कार्य करता है, इसलिए उसका जो कर्म विशेष है, वही उसके लिए विशेष कर्तव्य भी है और वही उसके लिए विशेष धर्म भी है। उदाहरण के लिए जैसे कोई ब्राह्मण वर्णवाला व्यक्ति अपने लिए निर्धारित कर्म करता है तो वे कर्म ही उसके विशेष धर्म के वाचक कर्म हैं। इसी तरह से जैसे कोई गृहस्थाश्रमवासी अपने लिए निर्धारित कर्तव्यों का पालन करता है तो वही उसके लिए विशेष कर्म भी हैं और वही उसके लिए पालन करने योग्य धर्म भी हैं। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में अपने एक दायित्व में है और वह उस दायित्व के अनुरूप अपने कर्मों का सम्पादन करता है। आचार्य चाणक्य का यही अभिप्राय है कि वही विशेष कर्म उस व्यक्ति के विशेष धर्म हैं। ऐसा ही आचार्य का अभिमत हैं।[1]

१. एष त्रयीधर्मश्चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणां च स्वधर्मस्थापनादौपकारिकः।
कौ. अ., पृ.१५

धर्म की व्याख्या में एक स्थान पर यह कहा गया है कि जो व्यवहार अपने अनुकूल न हो, उसका आचरण दूसरे के साथ मत करो।[1] अर्थात् जैसा व्यवहार करना अपने साथ भला प्रतीत नहीं होता हो, वैसा व्यवहार दूसरे के साथ कभी नहीं करना चाहिए। इसी तरह से एक दूसरे स्थान पर यह अभिमत दिया गया है कि जिस व्यवहार से इस लोक में आनन्द प्राप्त करते हुए व्यक्ति परलोक में कल्याण प्राप्त करता है, वह धर्म है। एक दूसरा मन्तव्य इस प्रकार का है जिसमें यह मत व्यक्त किया गया है कि न्याययुक्त कर्म करना धर्म का आचरण करना है और अन्याय युक्त कार्य करना अधर्म है।[2] एक अन्य महर्षि ने धर्म का कथन करने के साथ-साथ यह भी कहा है कि वही पाण्डित्य है, वही चतुरता है, वही परम धर्म है जिसमें आय से अधिक व्यय न करना पड़े।[3] महर्षि मनु जहाँ एक ओर धर्म के दस अंगों का कथन करते हैं, वहीं दूसरी ओर वे यह भी लिखते हैं कि सत्य बोलना चाहिए, असत्य भाषण नहीं करना चाहिए। प्रियवचन बोलना चाहिए और अप्रिय सत्य का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसी तरह से जो प्रिय हो और मिथ्या हो उसका व्यवहार भी नहीं करना चाहिए।[4] विष्णु पुराण में धर्म के इसी संकेत को लिया गया है और वहाँ पर उत्पत्ति क्रम में श्रद्धा, लक्ष्मी, धृति, मेघा, पुष्टि, बुद्धि आदि की उत्पत्ति दिखाकर संकेत रूप में धर्म का प्रतिपादन किया गया।

१. वि. ध. पु. ३/२५५/४४
२. म. भा. वन. २०७/६७
३. प. पु. सृ. ख. ऊ. ५०
४. म. स्मृ. ४/१३८

इसके अतिरिक्त व्यक्ति के जो अन्य गुण हैं और जिनका पालन कोई विशेष व्यक्ति नहीं अपितु सभी करते हैं और सभी के लिए उनका पालन करना आवश्यक है तो आचार्य कौटिल्य ऐसे गुण सर्व सामान्य के लिए होने के कारण सामान्य धर्म के रूप में कहते हैं। इन गुणों का कथन आचार्य उसी रूप में करते हैं जिस रूप में महर्षि मनु और याज्ञवल्क्य आदि ने किया है। उन्होंने लिखा है कि अहिंसा, सत्य, शौच, अनसूया, आनृशंसता और क्षमा आदि ऐसे गुण हैं, जो सभी द्वारा पालनीय हैं और सभी द्वारा पालनीय होने के कारण ये सामान्य धर्म कहे जा सकते हैं।[१]

अहिंसा :-

विष्णु पुराण के अनेक स्थलों पर यह देखा जा सकता है कि धर्म के अनेक अंगों का कथन समय-समय पर किया गया है। जैसे एक स्थान पर यह कहा गया है कि जो अपने धर्म का पालन करता है तथा जो किसी भी देहधारी को पीड़ित नहीं करता और किसी की हिंसा नहीं करता उस पर भगवान् सदा प्रसन्न रहते हैं।[२] इस रूप में अहिंसा धर्म के लिए यह विधान नहीं है कि कोई मनुष्यों की हिंसा न करें अपितु यह विधान है कि जीव मात्र को किसी प्रकार से पीड़ित नहीं करना चाहिए। किसी को भी पीड़ित करना हिंसा है और वह अधर्म है।

१. सर्वेषामहिंसा सत्यं शौचमनसूयानृशंस्य क्षमा च। कौ. अ., पृ. १४

२. न ताडयति नो हन्ति प्राणिनोऽन्याश्च देहिनः।
यो मनुष्यो मनुष्येन्द्र तेन तुष्यति केशव।। वि. पु. ३/८/१५

विष्णु पुराण में सामान्य धर्म के अंगों का कथन भी एक स्थान पर इस रूप में किया गया है, जहाँ पर यह कहा गया है कि सभी जीवों पर दया, तितिक्षा, अमानिता, सत्य, शौच, मंगल आचरण, प्रियवादिता, मित्रता, अकृपणता तथा पर दोष शून्यता आदि ऐसे गुण हैं जिनका पालन करना सभी के लिए सामान्य रूप से श्रेष्ठ है।

सत्य :-

धर्म के एक प्रमुख अंग सत्य के प्रयोग पर विष्णु पुराण में बहुत अधिक बल दिया गया है। महर्षि और्व ने एक स्थान पर मनुष्य के लिए पालनीय गुणों का कथन करते हुए यह कहा है कि व्यक्ति को चाहिए कि वह अप्रिय भाषण न करें। मिथ्या वचनों का प्रयोग तो किसी भी रूप में न करें। यदि मिथ्या वचन प्रिय भी होंवे तो भी उनका प्रयोग न करें। अर्थात् किसी भी रूप में मिथ्या भाषण नहीं करें।[१]

विष्णु पुराणकार सत्य बोलने का विधान तो आवश्यक करते हैं किन्तु वे यह भी लिखते हैं कि जो सत्य पर पुरुष के लिए अप्रीति कर ही उसे नहीं बोलना चाहिए। वे यह निर्देश करते हैं कि उसी सत्य का व्यवहार करना चहिए जिससे दूसरे को सुख मिले। किसी सत्य वाक्य से दूसरे को दुख मिलता है तो सत्य का व्यवहार कदापि नहीं करना चाहिए। अपितु ऐसी स्थिति में मौन ही रहना चाहिए। सत्य भाषण में भी परहित कार्य का ध्यान रखना चाहिए।[२]

---

१. किञ्चित् परैः न हरेत् नाल्यमाप्यप्रियं वदेत्। वि. पु. ३/१२/४
प्रियं चानृतं ब्रूयान्नान्यदोषानुदीरयेत्।।

२. वही, ३/१५/४३

सत्य के प्रयोग के संदर्भ में कुछ ऐसे आख्यान विष्णु पुराण में दिए गए हैं जो विस्मयकारी हैं और सामान्य व्यक्ति ऐसे सत्य को स्वीकार करने की स्थिति में नहीं होता। विष्णु पुराण के कथानकों में ऐसे सत्य स्वीकार किए गए हैं और असत्य का आश्रय नहीं लिया गया है। जैसे अहिल्या के आख्यान में हम देख सकते हैं। इन्द्र ने अहिल्या के साथ छल किया और उसके छल से अहिल्या धर्मभ्रष्ट हुईं। अहिल्या के पति ने यह जानकर इन्द्र को और अहिल्या दोनों को श्राप दिया। अहिल्या पति के श्राप से पत्थर बन गई और उसने अपने साथ किए गए छल का छिपाव नहीं किया। श्रीराम के समक्ष उसने सत्य स्वीकार किया और उनके दर्शन से वह अपने पूर्व कलंक से मुक्त हो गई।[१]

इसी तरह से एक अन्य आख्यान तारा का भी प्राप्त होता है। चन्द्रमा ने काम के वशीभूत होकर अपनी गुरु पत्नी तारा का अपहरण किया और उसके गर्भ में बालक स्थापित किया। बाद में तारा की प्राप्ति के लिए जब देवों और दैत्यों में भयानक युद्ध हुआ तब तारा वृहस्पति को मिली। उस समय तारा के गर्भ था जिसे वृहस्पति ने फिकवा दिया। जब तारा से यह पूछा गया कि यह गर्भ किसका है तो तारा ने असत्य न बोल कर यह बता दिया कि यह गर्भ चन्द्रमा का है।[२] इस प्रकार सत्य रूपी धर्म का पालन करने में तारा ने किसी प्रकार का संकोच नहीं किया और जो सत्य था, उसका कथन कर दिया।

१. वि. पु. (२), पृ. २५

२. कथय बत्से कस्यायमात्मजः सोमस्य वा बृहस्यतेर्वा इत्युक्ता लज्जमानाह सोमस्येति। वही, पृ० ३५

शौच :-

शुचिता का भाव ही शौच है। शौच धर्म का एक अंग है और इसे दो रूपों में जानना चाहिए। शौच का एक स्वरूप वह है जिसका पालन बाह्य रूप से किया जाता है। अर्थात् जिसमें शरीर की पवित्रता का ध्यान होता है और स्नानादि के माध्यम से यह पवित्रता प्राप्त होती है।

शौच के सम्बन्ध में हम उन आदर्शों को ग्रहण कर सकते हैं जिनमें प्रतिदिन के नियमों का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि व्यक्ति ब्रह्म मुहूर्त में उठकर एक निशिचित दूरी तक जाकर मल-मूत्र का त्याग करें। वह ऐसे जलाशय में जावे जो स्वच्छ हो और फेन रहित जल में आचमन करे। प्रयत्न पूर्वक मिट्टी लेकर इन्द्रियों, मूर्धा, बाहु, नाभि आदि में मिट्टी का स्पर्श करावे और फिर भली प्रकार से जल में स्नान करे। इसके बाद आवश्यकता के अनुरूप दर्पण और सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग करे।[1]

एक दूसरे स्थान पर यह कथन आया है कि जो अपने नित्य कर्मों का सम्पादन करना चाहते हैं, उनके लिए यह आवश्यक है कि वे अपने नित्यकर्म करने के पूर्व स्थान अवश्य देखें। ऐसा करने के लिए वे नदी नद, तालाब, बाबड़ी आदि में जाएँ और वहाँ पर उपलब्ध जल से स्नान करें। यदि इन स्थानों पर न जा सकें तो कुँए से जल लाकर अपने घर में स्नान करें अथवा कुँए के समीप ही जल लेकर स्नान करें। स्नान के पश्चात् स्वच्छ धुले हुए वस्त्र धारण करें और तब देव पितृ आदि का तर्पण कर अपना दैनन्दन कार्य प्रारम्भ करें।[2]

१. बाहू नाभि च तोयेन हृदयं चापि संस्पृशेत्।
स्वाचान्तस्तु ततः कुर्यात्पुमान् केशप्रसाधनम्।।
आदर्शञ्जनमाचल्यं दूर्वाद्यलभ्मन्तनि च।।
वि. पु. २/१/२०-२१

२. वही, पृ० ४१९

शारीरिक शौच के साथ-साथ विष्णु पुराण में मानसिक शौच का भी कथन किया गया है। एक स्थान पर भगवान् के भक्त का स्वरूप बताते हुए यह निरूपण किया गया है कि जो मनुष्य स्वच्छ चित्त, मात्सर्यहीन, प्रशान्त, पुनीत, निरभिमानी तथा सभी प्राणियों के हित की बात करने वाला होता है, श्री भगवान्का वही भक्त होता है। वहाँ यह वर्णन है कि मनुष्य के चित्त में राग द्वेषादि की मलिनता रहती है और इसी से उसका मन मलिन रहता है, भगवान् का ध्यान करने मात्र से उसका मन स्फटिक मणि के सदृश निर्मल हो जाता है। इसके लिए वहाँ पर एक रूपक दिया गया है कि जैसे चन्द्रमा की शीतल किरणों से अग्नि ज्वाल के सदृश उष्णता का रहना सम्भव नहीं है, उसी तरह से भगवान् के ध्यान से राग द्वेष की मलिनता का मन में रहना सम्भव नहीं है।[1]

एक दूसरे स्थान पर यह निरूपण है कि श्री विष्णु ने शुद्धाचार सम्पन्न चतुर्वर्ण की सृष्टि की है। उनकी सृष्टि में न कोई बाधा है और न ही स्वर्ग तथा अपवर्ग प्राप्त करने में कोई रोक है, केवल व्यक्ति का मन शुद्ध होना चाहिए और शुद्ध अन्तःकरण में ही ज्ञान आता है जिस ज्ञान की प्राप्ति से भगवान् विष्णु का पद प्राप्त किया जा सकता है।[2]

इस रूप में शौच के निरूपण में यह जानना चाहिए कि इसमें जहाँ एक ओर व्यक्ति शरीर की शुद्धि पर जोर दिया गया है, वहीं पर यह भी कहा गया है कि मनुष्य का मन भी निर्मल होना चाहिए। इसी से यह धर्म का अंग है और कल्याणकारी है।

१. वि. पु. (१), पृ. ३६७
२. वही, पृ० ८०

क्षमा :-

धर्म के एक अंग के रूप में क्षमा का भी अंकन किया गया है और यह कहा गया है कि यह धर्म के अंगों में एक विशिष्ट गुण है। महर्षि पराशर ने कहा कि एक बार क्रोध में आकर मैंने जब राक्षसों के वध करने के लिए एक विशाल यज्ञ किया तो उसमें हजारों की संख्या में राक्षस विनाश को प्राप्त हुए। तब महाराज वशिष्ठ जी ने मुझसे से कहा कि ज्ञानीजन क्रोध नहीं करते हैं। क्रोध तो कोई मूर्ख व्यक्ति ही करता है। इस संसार में कोई किसी का बध नहीं करता। सब अपने-अपने किए हुए कर्मों के फलों का भोग करते हैं। मनुष्य अत्यधिक तपस्या और परिश्रम करके जो पुण्य अर्जित करता है, क्रोध करने पर वे सभी नष्ट हो जाते हैं। उन्होंने कहा कि राक्षसों के निरपराधी होने पर उनका विनाश करना ठीक नहीं है इसलिए इन्हें क्षमा करो, क्योंकि साधुओं का आभूषण क्षमा है।[1]

एक प्रसंग ऐसा भी है जहाँ पर राजा सौदास ने एक राक्षस के द्वारा भ्रमित किए जाने पर महर्षि को मांस भोजन परोस दिया। महर्षि ने जब देखा तो क्रोध में राजा को शाप दे बैठे। राजा निर्दोष था और सत्कर्मी था, इसलिए अपराधन करने पर भी जब उसे शाप मिला तो वह भी क्रोध में आ गया और उसने महर्षि वशिष्ठ को श्राप देने का उपक्रम किया। इस राजा की पत्नी ने कहा कि आचार्य हैं, इसलिए इन्हें क्षमा करो। राजा ने वैसा ही किया।[2]

१. अलं निशाचरैर्दऽधैर्दीनैरपकारिभिः।
सत्रं येन विरमत्येतूत्क्षमाजरा हि साधनः।। वि.पु. ३/१/२०

२. असावपि प्रतिगृध्योदकाञ्जलि मुनिशापप्रदानायोद्यतो
भगवन्नयमस्मद्गुरर्नहि-एनं.....शप्तुमिति...। वही ४/४/५६

भगवान् श्रीकृष्ण की नाग लीला का उदाहरण भी क्षमा के गुण के स्वरूप में देखा जा सकता है। यमुना का जल दूषित करता हुआ कालिया नाग बहुत समय से यमुना में रह रहा था और व्रजवासियों के लिए कष्ट का कारण था। एक दिन श्रीकृष्ण ने यमुना में कालिया नाग को पकड़कर उसे मूर्छित कर दिया और उसका यह स्वरूप देखकर उसकी पत्नियों ने भगवान् से प्रार्थना की उनके पति को क्षमाकर दिया जाए और उसे मुक्त कर दिया जाए। बाद में कालिया ने स्वयम् भी भगवान् की प्रार्थना करते हुए कहा कि आप परम ऐश्वर्यवान् हैं। आपसे ब्रह्मा, रुद्र, चन्द्र, इन्द्र, मरुत, अश्विनी, वसु आदि आदित्यों की उत्पत्ति हुई हैं। इसलिए मैं भला आपकी स्तुति किस प्रकार से कर सकता हूँ। आप सत्-असत् और उभय भिन्न रूप वाले हैं और आपके इस स्वरूप का वर्णन ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी नहीं कर सकते हैं। जिनके अवतार के विविध रूपों का वर्णन नहीं कर सकते और देवगण विविध प्रकार के पुष्प लेकर जिनका अर्चन करते हैं, भला मैं उन परम आत्मा का अर्चन कैसे कर सकता हूँ। भगवान् ने उसकी ऐसी प्रार्थना पर उसे क्षमा कर दिया।[१]

इसी तरह से प्रहलाद के पिता ने प्रहलाद पर अत्याचार किए। किन्तु जब प्रहलाद ने भगवान् की स्तुति की तो यही कहा कि मुझे विष देकर, पर्वत से गिराकर, हाथी से कुचलवाकर और आपके प्रति अनावस्था दिखाकर मेरे पिता ने जो अपराध किया है, कृपाकर आप उस अपराध को क्षमा करें। भगवान ने ऐसा ही किया।[२]

१. वि. पु. (२), पृ. १६७-१७१
२. वि. पु. (१), पृ. २२५

(ख) विशेष धर्म :-

सभी के लिए हितकारक धर्म और विशेष-विशेष वर्ण के रूप में पालन किए जाने वाले धर्म का कथन आचार्य कौटिल्य ने किया है और यह कहा कि त्रयीधर्म का पालन सभी वर्णों के लिए उपकारक है और यही विशेष-विशेष वर्णों द्वारा पालन किए जाने के कारण विशेष धर्म भी है। इस रूप में वहाँ पर वर्णों के कर्तव्यों का कथन किया गया है और कर्तव्यों को ही उनका धर्म कहा गया है। इसमें ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जो अपने-अपने लिए निर्धारित कर्म करते हैं, वही उनके विशेष धर्म हैं। इस रूप में यदि हम विवेचन करना चाहें तो यह देख सकते हैं कि सभी वर्णों में ब्राह्मण की श्रेष्ठता स्वतः ही प्रतिपादित है क्योंकि उसका जन्म ही भगवान् के मुख से हुआ है। जिस प्रकार से शरीर के सभी अंगों में मुख ही श्रेष्ठ अंग है, उसी तरह से वर्णों में ब्राह्मण की श्रेष्ठता माननी चाहिए। ब्राह्मण के लिए जिन कर्तव्यों का कथन किया गया है, उनमें भी अध्ययन और अध्यापन ज्ञान के आधार होने के कारण उसकी श्रेष्ठता की पृष्ठभूमि कहते हैं। एक स्थान पर यह संकेत भी है कि उसके दान लेने के कार्यों में वह दान लेने का तभी अधिकारी है जब वह ब्रह्मवेत्ता हो।[१] अर्थात् जब ब्राह्मण ज्ञान की चरम सीमा तक पहुँच चुका हो तभी वह ब्राह्मण के कर्तव्यों का निर्वाह भली प्रकार कर सकता है। यदि वह इस प्रकार के कर्तव्य करने में सक्षम नहीं है तो वह ब्राह्मणत्व से च्युत है और दानादि लेने का अधिकार भी उसके पास नहीं है।

---

१. वृह ३/१/२

एक दूसरा सन्दर्भ भी इसी प्रकार का संकेत करता है जिसमें यह संकेत है कि ब्राह्मण के जीवन में सत्याचरण ही उसके लिए महत्वपूर्ण है। जो ब्राह्मण है, वह हर एक दशा में सत्य का ही आश्रय लेगा और सत्य का आश्रय लेने से ही उसकी पहचान ब्राह्मण के रूप में हो सकेगी। एक बालक जाबालि शिक्षा की प्राप्ति के लिए आचार्य के आश्रम में गया। वहाँ आचार्य ने उससे उसके पिता का नाम पूछा। बालक ने कहा, मैं पिता का नाम नहीं जानता। मैं अपनी माता को ही जानता हूँ। आचार्य ने कहा, जाओ, अपनी माता से अपने पिता का नाम पूछो। बालक घर आया और उसने अपनी माता से अपने पिता का नाम पूछा। माता ने कहा, वेटा! मैं ऋषियों के यहाँ दासी का कार्य करती थी। उसी समय मेरा किसी से सम्पर्क हुआ जिससे तेरा जन्म हुआ। मैं नहीं जानती कि तू किसका पुत्र हैं क्योंकि मैं तेरे पिता का नाम नहीं जानती। तू अपने आचार्य के पास जा और उनसे इसी प्रकार सत्य कहना और फिर उनसे कहना कि वे तुझे शिक्षा प्रदान करें। बालक लौटकर आचार्य के पास आया और उसने कहा कि मैं अपने पिता का नाम नहीं जानता। क्योंकि मेरी माता ही मेरे पिता का नाम नहीं जानती। इस पर आचार्य ने कहा, तू सच्चा ब्राहमण है क्योंकि ऐसे सत्य को ब्राह्मण के अतिरिक्त और कोई नहीं बोल सकता। जो ब्राह्मण है, वही सत्य बोलता हैं।[१]

१. छान्दो. ४/५/५

विष्णु पुराण में सृष्टि के क्रम का वर्णन करते हुए यह लिखा गया है कि सत्य स्वरूप ब्रह्मा जी के मुख से सत्वगुणयुक्त प्राणियों ने जन्म लिया।[1] यही प्राणी ब्राह्मण वर्ण के नाम से जाने गए। वहाँ पर इनके कर्तव्यरूप धर्म का कथन करते हुए यह लिखा गया है कि ब्राह्मण दान करें, यज्ञ सम्पादित करता हुआ देवताओं का यजन करें। स्वाध्याय में निरत रहे, नित्य स्नानादि से स्वच्छ होकर तर्पण का कार्य करें। वह यज्ञ के माध्यम से अपनी जीविका चलावें और कभी भी अन्याय पूर्वक धन का संचय न करें।[2] यही उसके विशेष कर्म हैं और इन्हें ही विशेष धर्म कहा जा सकता है।

जिस प्रकार से ब्राह्मण धर्म का कथन है, उसी तरह से क्षत्रिय धर्म का कथन भी विष्णु पुराण में किया गया। क्षत्रिय का प्रथम कार्य है शस्त्र धारण करना। वह अस्त्र-शस्त्र धारण करके सभी जीवों की रक्षा कर अपने कर्तव्य का पालन करें, यह उसका धर्म है।[2] क्षत्रिय का धर्म यद्यपि कठिन कहा जा सकता है क्योंकि उसे अस्त्र-शस्त्र संचालन कार्य करना है और कठोरता के व्यवहार से हिंसा में प्रवृत्त होना है। किन्तु इसके लिए विष्णु पुराण में यह संकेत है कि पृथ्वी का पालन करने से ही क्षत्रिय धन्य होता है और अपने इसी धर्म के पालन से ही वह पृथ्वी पर होने वाले यज्ञों से अपेक्षित पुण्यफल प्राप्त कर लेता है।[2]

वैश्यों के लिए तथा शूद्रों के लिए भी इस पुराण में वर्ण धर्मरूपी इनके कर्तव्यों का कथन किया गया है। वैश्यों के लिए यह कहा गया है कि वे पशुपालन, वाणिज्य और कृषि कर्म करें और शूद्र त्रिवर्ण की सेवा रूपी धर्म का पालन करें। इनसे सभी प्रकार की व्यवस्था बने यह सभी धर्म हैं।

१. वि.पु. (१), पृ. ७८
२. वही, पृ. ४०४-४०५
३. वही, पृ. ४०५-४०६

(ख) आश्रम धर्म :-

जिस प्रकार से प्राचीन समाज वर्ण व्यवस्था को स्वीकृत किया गया था और उसमें सभी के लिए निर्धारित कर्मों का कथन करके यह कहा गया था कि ये कर्म उस-उस वर्ण के लिए विशेष धर्म हैं, उसी प्रकार से आश्रमों की व्यवस्था का कथन भी पुरानी परम्परा में किया गया हैं और जीवन को चार भागों में बाँटकर उसे ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम के रूप में प्रतिपादित किया गया है। इन आश्रमों में रहने वाले आश्रम वासियों के लिए जिन कर्तव्य का कथन किया गया, उन्हें आश्रमधर्म के रूप में देखा जा सकता हैं।

बालक के जन्म लेने के पश्चात् उसे एक निश्चित आयु के उपरान्त अध्ययन करने के लिए गुरुगृह में जाता हैं। वहाँ जाकर बालक एक विशेष प्रकार के नियमों और उपनियमों में बँधकर रहता था और इन्हीं नियमों को ब्रह्मचर्याश्रम के नियम अथवा कर्तव्य कहा जाता था।

इस आश्रम में जो बालक रहता था, उसका लक्ष्य होता था, विद्या प्राप्त करना। विद्या आचार्य के द्वारा प्रदान की जाती थी, इसलिए विद्यार्थी अथवा ब्रह्मचारी के लिए यह परामर्श था कि वह अपने आचार्य का भरपूर सम्मान करें। उसके लिए यह विधान किया गया था कि ब्रह्मचारी गुरू के आसन ग्रहण करने के पश्चात् बैठे, उनके खड़े रहने पर खड़ा रहे। जब तक वे न चलें तब तक ब्रह्मचारी न चलें और जब वह अपने लिए भिक्षा लेकर आवे तो उस भिक्षा को आचार्य को समर्पित कर देवें। आचार्य के द्वारा भोजन कर लेने पर भिक्षा का जो अंश शेष रह जावे ब्रह्मचारी वही ग्रहण करें।

विष्णु पुराण में ब्रह्मचारी के लिए वही कार्य बताए गए हैं जो उसके लिए धर्मस्वरूप हैं। वहाँ पर आचार्य की आज्ञा मानने के साथ-साथ यह संकेत है कि ब्रह्मचारी स्नान करने के पश्चात् प्रतिदिन आचार्य के हवन के लिए समिधा और पूजन के लिए पुष्पादि लावें। इसी प्रकार से जब उसकी विद्या पूर्ण हो जावे तो वह अपने आचार्य को गुरुदक्षिणा प्रदान करें।[1]

आश्रमों में गृहस्थाश्रम का महत्त्व इसलिए अधिक है क्योंकि यह आश्रम ऐसा है, जहाँ पर अन्य सभी आश्रमवासी जाते हैं और अपनी जीविका पाते हैं। इसलिए विष्णु पुराण में जब गृहस्थ धर्म का आख्यान किया गया तो वहाँ पर यह कहा गया कि जब ब्रह्मचारी को ज्ञान प्राप्त हो जाए और उसकी विद्या पूरी हो जाए तब वह अपने आचार्य से आज्ञा लेकर किसी योग्य कन्या से विवाह करे और द्रव्यार्जन करता हुआ अपना गृहस्थाश्रम चलावे।

गृहस्थाश्रम के कर्तव्य रूप धर्म में हम यह देखते हैं कि इस पुराण में गृहस्थ के लिए यह कहा गया है कि वह सभी का पालन-पोषण करे। जो भ्रमणशील ब्राह्मणादि अतिथि होकर आवें, उन्हें निराश न करें। तर्पणादि के द्वारा जहाँ अपने पूर्वजों को तृप्त करे वहीं हवनादि भजन के द्वारा देवों को तृप्त करें। वानप्रस्थाश्रम में तथा संन्यासाश्रम में रहने वाले भी गृहस्थ के पास ही आते हैं, इसलिए गृहस्थ इनका पालन भी करे। ऐसा कर्म करता हुआ और गृहस्थ धर्म का पालन करता हुआ जो अपना जीवन व्यतीत करता है, वह पूर्ण काम होता है।[2]

---

१. वि.पु. (१), पृ. ४०७
२. वही, पृ. ४०६

गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थाश्रम आता है और भारत की प्राचीन परम्परा में इस आश्रम में रहने वाले के लिए भी कर्तव्यों का कथन किया गया है। इसके लिए यह कहा गया है कि जब गृहस्थाश्रम का पालन करते हुए पर्याप्त अवस्था हो जाए तो अपनी पत्नी के साथ अथवा बिना पत्नी के ही ज्येष्ठ पुत्र को घर का भार सौंपकर वन को चला जाए। वहाँ पर वह जितना अधिक हो सके संयम का आचरण करे और किसी भी रूप में यदि अतिथि आ जाए तो उसका भी यथोचित मान रखे। वानप्रस्थ आश्रम के कर्तव्यों के कथन में यह कहा गया है कि जो कोई इस आश्रम के लिए निर्धारित कर्तव्य करता है, वह अपने इन्हीं कर्तव्य रूपी धर्मों के पालन से अपने दोषों को भष्म कर डालता है।[१]

चतुर्थाश्रम अर्थात् संन्यासाश्रम ऐसा आश्रम है जिसमें व्यक्ति के लिए सभी प्रकार की कामनाओं के त्याग का विधान किया गया है। किन्तु इसके लिए पुराण का यह निर्देश है कि वहाँ पर रहता हुआ व्यक्ति अपने मन के कालुष्य से अपने आपको बचावे। वह न किसी से प्रेम करे और न किसी से द्वेष करे। इस संसार में उसका न कोई शत्रु होवे और न कोई मित्र होवे। अभी तक उसके मन में जो वासनायें रही हों, उनका भी परित्याग कर दें। अर्थात् संन्यासी अपने मन में किसी प्रकार की वासनाएँ न रखें।[२]

इस रूप में इन चारों आश्रमों के लिए न केवल पुराण उनके कर्तव्यों का उल्लेख करते हैं अपितु इन्हें धर्म रूप में कहकर इनके पालन करने को अनिवार्य बताते हैं। यही पुराणकारों के आश्रमधर्म हैं।

१. वि.पु. (१), पृ. ४१०
२. वही, पृ. ४११

(घ) लौकिक धर्म :-

लौकिक जीवन में संचालित होने वाले व्यक्ति के कर्तव्यों को लौकिक धर्म के रूप में देखा जा सकता है। इसका अभिप्राय है कि शास्त्र की मर्यादा का पालन करते हुए लौकिक कल्याण के लिए व्यक्ति जो कुछ आचरण और व्यवहार करता है, वे सभी लोक धर्म से जाने जा सकते हैं। विष्णु पुराण में इनकी एक लम्बी-चौड़ी परम्परा है और वहाँ पर लौकिक व्यवहारों को धर्म रूप में पालन करने का निर्देश है। उदाहरण के लिए वहाँ पर यह कहा गया है कि समाज की धुरा में गृह धर्म का पालन करने वाला गृहस्थ ही होता है, इसलिए गृहस्थ को चाहिए कि वह ऐसा आचरण करे जिससे उसका लोक जीवन सुन्दर और सफल हो सके। उसे यह करना चाहिए कि वह किसी भी दूसरे व्यक्ति के धन का अपहरण न करें। अर्थात् किसी दूसरे व्यक्ति के धन की इच्छा कदापि न करे। ऐसा ही कथन उसके लिए इस प्रकार का है जिसमें यह कहा गया है कि वह कभी भी किसी भी अवस्था में ऐसा भाषण न करे जो अप्रिय हो और जिस कथन से किसी दूसरे के मन में कष्ट का अनुभव होता हो। इसी प्रकार से लौकिक धर्म का एक आचरण वह भी है कि व्यक्ति असत्य भाषण न करे और कभी भी दूसरे के दोषों का कथन न करे अर्थात् वह किसी के दोषों को देखे ही नहीं। इसी रूप में व्यक्ति को चाहिए कि वह किसी दूसरे की स्त्री में कभी भी अपना प्रेम प्रदर्शित न करे और न ही कभी दूसरे की स्त्री के प्रति मन में कुविचार ही लावे। जो व्यक्ति सदा लोकधर्म को शास्त्र रीति से निबाहना चाहते हैं, पुराणकार उनके लिए यह निर्देश करते हैं कि वे कभी भी उन व्यक्तियों के साथ व्यवहार न करें, जो लोक में निन्दा के पात्र हो चुके हों।

जो उन्मत्त अवस्थावाले हों अर्थात् जिनकी बुद्धि ठीक से काम न कर रही हो और विवेक शून्य हो चुके हो, बुद्धिमान् व्यक्ति को ऐसे व्यक्ति के साथ भी व्यवहार नहीं करना चाहिए जिसकी पत्नी भ्रष्ट आचरण वाली होवे और जो पति मिथ्या भाषण करता हो। उन व्यक्तियों के साथ भी लोक व्यवहार करने का निषेध किया गया है जो व्यक्ति बहुत अधिक व्यय करने वाले होवें और सदा दूसरे की निन्दा में रुचि रखते हों तथा जिनका स्वभाव दुष्टता का होवे।[१]

जो व्यक्ति हीन चरित्र के हैं या जिनका व्यवहार हीनता का है, उनसे कभी भी व्यवहार करना ठीक नहीं हैं। विष्णु पुराणकार ने यह लिखा है कि जिस व्यक्ति का चरित्र संशयात्मक है अथवा जो अपने विचारों में सदा संशयशील बना रहता है, उसके साथ कभी भी व्यवहार नहीं करना चाहिए।[२] सम्भवतः ऐसे पुरुषों के साथ सम्बन्ध करने से अपना विचार और विवेक भी संशयशील हो जाता है। इसी प्रकार से जहाँ इस पुराण में असंशयी पुरूष के व्यवहार करने का निषेध किया गया है वहीं पर ऐसे पुरूषों के साथ व्यवहार करने का निर्देश है जो सदाचार का पालन करने वाले होवें और जिनके व्यवहार से अपना कल्याण हो सके, क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष के साथ किया गया एक क्षण का व्यवहार भी कल्याणकारी होता है।[३]

---

१. वि. पु. ३/१२/४-७, तुलनीय-ई. उ., १/१
२. संशयात्मा विनश्यति। भ.गी.
३. वि. पु. (१), पृ. ४३७

व्यक्ति के श्रेष्ठ आचरण और लोक के प्रति उसके द्वारा किए जाने वाले व्यवहार को लोकधर्म कहना इसलिए संगत है क्योंकि विष्णु पुराण में जिन व्यवहारों की चर्चा की गई है वे सभी व्यक्ति को उसके जीवन में मंगल दिलाने वाले हैं। जैसे कि एक अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि किसी भी व्यक्ति को स्त्रियों का अपमान नहीं करना चाहिए किसी भी व्यक्ति को उनसे ईर्ष्या नहीं करना चाहिए और उनका विश्वास भी नहीं करना चाहिए।[१] किन्तु इसी प्रकार से वहाँ पर यह निर्देश भी है कि किसी को भी स्त्रियों का अपमान नहीं करना चाहिए।

वहाँ पर यह कहा गया है कि जो कोई व्यक्ति सदा-सर्वदा देवताओं और ऋषियों का पूजन करता है अपने पूर्वपुरुषों को जलदान देकर उन्हें तृप्त करता है और निरन्तर अपने द्वार पर आए हुए अतिथियों का स्वागत करता है, वह अपने इन कर्मरूपी धर्मों के सम्पादन से स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है। जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों पर विजय पा लेता है और इन्द्रियों के द्वारा होने वाले विषयों से आकर्षित नहीं होता, वह कल्याण का अधिकारी होता है। जो लज्जा के भाव वाला है, दूसरे के द्वारा अपराध किए जाने पर भी उसे क्षमा कर सकता है आस्तिक है और विनयशील है वह श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा प्राप्त करने योग्य लोक प्राप्त कर लेता है।[३]

---

१. न चैवेर्ष्या भवेत्तासु न धिक्कुर्यात् कदाचन।
योषिता नावमन्येत न चासां विश्वसेद् बुधः।। वि.पु. ३/१२/३०

२. तुलनीय= विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेष च। हि., पृ. ५०१

३. ह्रीमान्धीमान्क्षमायुक्तो ह्यास्तिको विनयान्वितः।
विद्याभिजनवृद्धानां याति लोकाननुत्तमान्।। वि.पु. ३/१२/३५

भारतीय परम्परा कृतज्ञता की परम्परा है और उसमें कृतज्ञता ज्ञापन के लिए अनेक प्रकार के आचरण करने का निर्देश किया गया है। इसलिए ईश्वर ने जो दिया है उसे समुचित रूप से सभी को वितरित करने की दृष्टि से अतिथि सेवा का निर्देश है और अपने पूर्वजों के स्मरण रूप में श्राद्ध करने की परम्परा का कथन किया गया है यह भी एक प्रकार से लोक परम्परा के साथ-साथ धर्म का आचरण है।

इस रूप में विष्णु पुराण में पूर्वजों के लिए तर्पण की जो विधिनिर्देशित की गई है, उसमें यह कहा गया है कि व्यक्ति अपने पितरों, पितामहों, प्रपितामहों को जल देकर उनका तर्पण करे। इसी प्रकार से वह अपनी माता, प्रमाता और गुरूपत्री को जलदान करके उन्हें तृप्त करने का प्रयत्न करे। राजा पूरी प्रजा की रक्षा करता है, इसलिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति तर्पण करता हुआ अपने राजा के लिए भी जल प्रदान करे। इस सृष्टि में केवल मनुष्य ही नहीं है अपितु कीट-पतंग, जलचर, थलचर और नभचर नाम के अनेक और भी जीव हैं, जिन्हें जल देकर तृप्त किया जाना लोक धर्म हैं। इस रूप में वह यह प्रार्थना करे कि जो भी मेरे बन्धु अबन्धु होवें, वे सभी यह जल प्राप्त करें।[१]

इसी रूप में अतिथि के स्वागत और उसकी व्यवस्था का कथन भी इस पुराण में किया गया है और उसे देवरूप में माना गया है। उसके लिए यह कहा गया है कि अतिथि चाहे जिस रूप वाला हो, गृहस्थ के लिए यह पालनीय कर्तव्य है कि वह हर स्थिति में अतिथि का सत्कार करे और किसी भी रूप में उसे अपने द्वार से विमुख न होने देवे।

१. वि.पु. (१), पृ. ४२०-४२१

(ड़) पारलौकिक धर्म :-

मनुष्य का जीवन दो प्रकार का होता है। एक जीवन वह होता है जो इस लोक में रहकर वह व्ययीत करता है और दूसरा जीवन वह होता है, जिसे वह इस लोक से जाने के बाद जीता है। क्योंकि भारतीय आस्था पुनर्जन्म मानती है, इसलिए यह भी माना जाता है कि इस जीवन के बाद दूसरा जीवन भी होता है। दूसरा एक विचार यह भी है कि लोक की अपेक्षा परलोक एक श्रेष्ठलोक है और वहाँ सभी सुख पाने के अधिकारी होते हैं। विष्णु पुराण में एक स्थान पर यह वर्णन आया है कि एक राजा के शिवध्वज थे और दूसरे राजा खाण्डिक्य थे। किसी बात को लेकर इन दोनों में विग्रह हुआ था जिसके कारण शिवध्वज ने ने राजा खाण्डिक्य के राज्य पर अधिकार कर लिया। समय आने पर शिवध्वज जब एक बार खाडिक्य के यहाँ पहुँचा तो खाण्डिक्य उसका वध करने को उद्यत हो गया। केशिध्वज ने कहा कि मैं वैर पूर्वक तुम्हारे यहाँ नहीं आया हूँ और तुम चाहो तो मेरा वध कर दो। इस पर खाण्डिक्य ने अपने पुरोहितों और मंत्रियों से पूछा कि अब इस स्थिति में क्या करना चाहिए। पुरोहित और मंत्रियों ने तब यह परामर्श दिया कि शत्रु, यदि आपके सामने स्वतः ही आ गया है तो अब इसका वधकर देना चाहिए।

राजा खाडिक्य ने कहा कि आप सबका ऐसा कहना उचित है और व्यवहारिक भी है, किन्तु मैं यदि ऐसा करुँगा तो इसे स्वर्ग मिल जावेगा और मैं केवल इस पृथिवी के राज्य पाने का अधिकारी ही रहूँगा। यह अपने शस्त्रों का परित्याग करके मेरे पास आया है यदि इस स्थिति में मैं इसका वध करुँगा तो यह पारलौकिक विजय का अधिकारी होगा और मैं केवल लोक का अधिकारी रह जाऊँगा। लोक छोटा होता है और परलोक बड़ा। पृथिवी अल्पकालिक है और पारलौकिक विजय बड़ी है। इस रूप में इस कथानक के माध्यम से विष्णु पुराणकार

लोक की अपेक्षा परलोक को श्रेष्ठ मानते हैं और उसी की प्राप्ति के लिए पारलौकिक धर्म पर चलने का प्रयत्न करते हैं।[1]

इसके बाद खाण्डिक्य केशिध्वज को उपदेश करता है और केशिध्वज बिना कोई दक्षिणा दिए खाडिक्य के पास फिर पहुँच जाता है। खाण्डिक्य पूछता है कि अब तू यहाँ क्यों आया है तो इसके उत्तर में वह दक्षिणा देने की इच्छा व्यक्त करता है। तब खाडिक्य अपने पुराहितों और मन्त्रियों से परामर्श करता है जिस पर वे कहते हैं कि ऐसे अवसर पर राजा का पूरा राज्य मांग लिया जाना चाहिए। खाडिक्य उनके परामर्श की उपेक्षा कर देता है और केशिध्वज से कहता है कि आप परमार्थ के ज्ञाता हैं और अब मेरे मन में न राज्य की इच्छा है और न किसी प्रकार के भोग की कामना है। अध्यात्म ही वह विद्या है जो पारलौकिक विद्या है और जिस विद्या की प्राप्ति से सभी प्रकार के क्लेशों का शमन हो जाता है।[2]

इस रूप में विष्णु पुराण का संकेत स्पष्ट है कि यथोचित रूप में लोकधर्म पालनीय होते हुए भी पारलौकिक धर्मों से न्यून है क्योंकि लोक धर्मों के पालन किए जाने पर भी व्यक्ति सांसारिक क्लेशों से मुक्त नहीं हो पाता है जबकि पारलौकिक मार्ग ऐसा है जिसके अनुसार चलने पर जीवन में किसी भी प्रकार का क्लेश नहीं रह जाता है। इसके लिए स्थान-स्थान पर इस पुराण में निर्देश किया गया है। इस निर्देश में एक ही सन्देश है कि पारलौकिक धर्म वह है जिससे परलोक की सिद्धि होती है और जीव को किसी प्रकार का क्लेश नहीं रहता।

---

१. नाहं मन्ये लोकजयादधिका स्याद् वसुन्धरा।
परलोकनयोऽनन्त्रस्वल्पकालो महाजयः।। वि.पु. ६/६/३०

२. यदि चेद दीयते मध्यं भक्त्या गुरुनिष्क्रियः।
तत् क्लेशप्रशमना यत्कर्म तदुदीरय।। वही ६/६/५०

केशिध्वज खाण्डिक्य को आत्मा और अनात्मा के विषय में विस्तार से बताते हैं। वे कहते हैं कि बुद्धिहीन प्राणी मोहरूपी अन्धकार में पड़कर पञ्चभूतात्मक इस शरीर में मैं और मेरा का भाव रखते हैं। किन्तु पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश से बना यह पंचभूत शरीर है तब भला यह कौन स्वीकार करेगा कि यही आत्मा है और जब यह प्रतीति हो रही है कि यह शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है तब भला इस शरीर को और शरीर व्यवहार को और शरीर व्यवहार से घर तथा परिवार के व्यवहार को कौन सत्य मानेगा।[1]

ज्ञान पारलौकिक धर्म के मार्ग की परम प्राप्ति है। इसलिए केशि-ध्वज ने राजा खाण्डिक्य से कहा कि मनुष्य का जो बन्धन और मोक्ष होता है, वह मनुष्य के मन के कारण होता है। जब वह बन्धन का अनुभव करता है, तब वह विषयभोग में बंधा रहता है। अर्थात् जब जीव विषय भोगों में आसक्त होकर उधर अपना मन लगा देता है तब वह उन विषयों और उनके भोगों से बंध जाता है। इसके विपरीत जब व्यक्ति संसार के विषयों से अपने मन को उपराम कर लेता है, तब वह मोक्ष का अनुभव करता है क्योंकि तब वह विषयों की आसक्ति में फंसा नहीं रहता है। इस रूप में विषयासक्ति बन्धन है और विषयमुक्ति मोक्ष है। ऐसा आचरण ही पारलौकिक आचरण है।

1. पञ्चभूतात्मके देहे देही मोह तमोवृतः।
अहं ममैतदित्युञ्चे कुरुते कुमतिर्मम।।
आकाश्सवाख्ग्नि जलपृथ्वीभ्यः पृथक्स्थिते।
आत्मन्यात्ममयं भावं कः करोति कलेवरे।।
वि. पु. ६/७/१२-१३

पारलौकिक जीवन की व्याख्या करते हुए और उसके महत्व का अङ्कन करते हुए यह कहा गया है कि जो शब्द ब्रह्म के ज्ञान करने में सक्षम है वह परब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है। इसी तरह से विद्याओं के विवेचन में दो प्रकार की विद्यायें कहीं गयीं हैं एक परा विद्या और दूसरी अपरा विद्या। परा विद्या के द्वारा अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव होती है, जबकि अपरा विद्या से वेदादि ज्ञान की प्रतीति होना कहा गया है। जो परब्रह्म है और जो परा विद्या के द्वारा प्राप्त होता है वह ब्रह्म अव्यक्त, अजर, अचिन्त्य, अज, अव्यय, अरूप, विभु, कारण रहित, वर्णित किया जाता है। इसका विशेष विवरण देते हुए यह कहा गया कि ब्रह्म व्यक्त नहीं है। वह सूक्ष्म रूप से सभी जगह व्याप्त है जिसे ज्ञानी जन ही देख पाते हैं। इसी तरह से वह ब्रह्म कभी जीर्ण भी नहीं होता और उसे अजर कहा जाता है। संसार की सभी वस्तुऐं घटती-बढ़ती हैं। अर्थात् यहाँ की वस्तुओं का ह्रास होना और बढ़ना सहज स्वभाव है, किन्तु ब्रह्म न कभी बढ़ता है और न कभी घटता है, न उसका कभी ह्रास होता है और न कभी विकास होता है। संसार की सभी वस्तुओं का कोई न कोई रूप है किन्तु ब्रह्म रूप रहित है। इसलिए उसे अरूपी कहा जाता है।

ब्रह्म के स्वरूप निर्धारण में उसे कारण रहित कहा गया है। जिसके विषय में यह व्याख्यान है कि संसार की उत्पत्तियों में सभी पदार्थों का कोई न कोई कारण होता है किन्तु ब्रह्म की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं होता। यह अकारण है, किन्तु इसके इस स्वरूप को ज्ञानी जन ही देख पाते हैं। इसी के प्राप्ति के सम्बन्ध में इसे परम धाम कहा जाता है। जो मुमुक्ष हैं और मोक्ष की इच्छा रखते हैं वे भी इसी परब्रह्म को प्राप्त करना चाहते हैं। ब्रह्म उपासना का विषय नहीं है और शब्द का भी विषय नहीं है फिर भी भगवत् शब्द से उसकी उपासना की जाती है। जिस रूप में भगवत् शब्द कहा गया है वह उसका स्वरूप ब्रह्म का स्वरूप है और यह केवल उपचार मात्र है। उपचार रूप में ब्रह्म को व्यक्त करने वाले भगवत् शब्द को भी कारण रहित ही कहा जाता है। विष्णु पुराण में लिखा है कि इसमें 'भ' शब्द से दो अर्थ ग्रहण किये जाते है एक अर्थ होता है भरण करने वाला और दूसरा इसका अर्थ है सभी को आधार देने वाला। इसमें जो गकार शब्द है वह कर्म फल की प्राप्ति कराने वाला है तथा लय करने वाला और रचना करने का अर्थ देने वाला है।[1]

१. वि.पु. ६/५/७२-७३

भगवत् शब्द में जो 'भग्' शब्द है वह छह विशेषताओं को प्रकट करता है ये विशेषताऐं हैं- ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य। जहाँ पर इन छह विशेषताओं का समन्वय है वह भगवान् है; क्योंकि उसमें सम्पूर्ण धर्म है, सम्पूर्ण यश है, सम्पूर्ण श्री है, सम्पूर्ण ज्ञान है और सम्पूर्ण वैराग्य है। इन छह तत्वों की परिकल्पना संसार में की जा सकती है; किन्तु संसार में इनकी परिकल्पना करने पर इनमें सम्पूर्णता की दृष्टि नहीं हो सकती; क्योंकि संसार में सम्पूर्णता नहीं है।

वह ब्रह्म संसार के सभी प्राणियों में निवास करता है और संसार के सभी प्राणी भी उसमें निवास करते हैं इसलिए वह सर्वभूतमय है और अव्यय है। भगवान् शब्द का प्रयोग वहीं किया जा सकता है जो सभी जीवों की उत्पत्ति का विनाश का और आवागमन का आश्रय हो। जिसमें विद्या और अविद्या सम्पूर्णता से विद्यमान हो। ज्ञान, शक्ति, बल और ऐश्वर्य जहाँ पूरी तरह से सम्पूर्णता पाते हों।[1]

१. उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिं तथा।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति।।
वि.पु. ६/५/७८

पारलौकिक जीवन की सफलता और परिपूर्णता का लक्षण ही यही है कि व्यक्ति लोक से परे जो पारमार्थिक तत्त्व है उसे जाने और उसका अनुभव करता हुआ परमार्थ में ही प्रसन्नता का अनुभव करे। उस परमार्थ रूप शक्ति को वासुदेव कहकर भी सम्बोधित किया गया है। इसका हेतु यह बताया गया है कि जो सर्वभूतों में व्याप्त है और जिसमें सर्वभूत व्याप्त हैं तथा जो संसार का आश्रय है, रचियता है तथा रक्षक है वह वासुदेव है। वह प्रकृति से परे है, उसके गुण और दोषों से विलक्षण है। संसार के किसी भी आवरण से आवृत्त नहीं है। इस तरह वह इस रूप में व्याप्त है जिसमें पृथ्वी और आकाश में वह सर्वत्र दिखाई देता है उस वासुदेव के वर्णन में विष्णु पुराण यह प्रस्तुत करता है कि वह समष्टि रूप में भी है व्यष्टि रूप भी है। वह व्यक्त रूप भी है और अव्यक्त रूप भी है। वह सर्व साक्षी है, सभी का स्वामी है, सर्व शक्ति सम्पन्न है और परमेश्वर स्वरूप है। उसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है, किसी प्रकार का मल नहीं है, वह विशुद्ध है, उसकी संज्ञा परमेश्वर की संज्ञा है और वह एक होने के साथ-साथ सभी के द्वारा ज्ञातव्य और ध्यातव्य है।[1]

---

१. स ईश्वरो व्यष्टि समष्टि रूपो व्यक्त स्वरूपोऽप्रकटस्वरूपः।
सर्वेश्वरः सर्वविच्च समस्तशक्तिः परमेश्वरास्यः।। वि.पु. ६/५/८६

ब्रह्म के इस व्यापक स्वरूप को व्यक्ति के पारलौकिक जीवन को हेतु बताते हुए यह कहा गया है कि जो कोई जगत् के आधार, आत्मा के आश्रय सर्वस्वरूप ज्ञानमय आदि अन्त रहित उस भगवान् का ध्यान करता है तो उसका परम कल्याण अवश्य होता है। उस परमात्मा का ध्यान इस प्रकार का फल देने वाला है जिससे क़िसी को नर्क की प्राप्ति नहीं होती। उस भगवान् का स्मरण ऐसा आनन्दप्रद है जिसके स्मरण से स्वर्ग का सुख भी निःसार प्रतीत़ होता है। वह ब्रह्म ऐसा है कि जिसका ध्यान करने से न कोई जन्म लेता है न कोई मृत्यु को प्राप्त होता है उस ब्रह्म के स्मरण मात्र से स्वर्ग का सुख न्यून प्रतीत होता है। वह न जन्म लेताहै, न मृत्यु को प्राप्त करता है, न ही वह क्षीण होता है और न ही बढ़ता है। वह न सत् है, न असत् है इसलिए वह श्रवण का विषय न होकर धारण करने का विषय है और इसी धारणा के आधार पर वह व्यक्ति को परम आनन्द की प्राप्ति कराता है। विष्णु पुराणकार ने उस परम पुरुषोत्तम को व्यक्ति के जीवन के लिए श्रेय रूप में स्वीकार किया और यही लिखा कि उसका न आदि है, न अन्त है। न उसकी किसी रूप में वृद्धि होती है और न कभी उसका किसी रूप में क्षय होता है। ऐसे उस नित्य, निर्विकार अक्षय रूप ब्रह्म को मैं नमस्कार करता हूँ।

इस पुराण के अन्त में महर्षि ने भगवान् को व्यक्ति के जीवन का परम कल्याण कारक मानकर अनेकशः नमस्कार किया है और इसी क्रम में विविध रूपों में उसका वर्णन भी किया है। वहाँ पर यह लिखा गया है कि यद्यपि सभी गुणों का आधार है तथापि गुणरहित है। वह है तो एक किन्तु अनेक रूपों में प्रकट होता है इसी तरह से वह शुद्ध है तथापि संसार के रूप में लक्षित होने के कारण अशुद्ध या दिखाई देता है। वह ज्ञान और प्रवृत्ति का नियमन करता करता है मनुष्य को सभी प्रकार के भोग प्रदान करता है उसमें तीनों गुण की स्थिति है भी और नहीं भी। वह संसार की उत्पत्ति का हेतु होता हुआ भी स्वयं अहेतुक हैं। अर्थात् उसकी उत्पत्ति का कोई हेतु नहीं है। वह इस जगत् में आकाश रूप में परिलक्षित होता है, वायु के रूप में दिखाई देता है अग्नि के रूप में दृष्टिगत होता है और वह जल और पृथ्वी के रूप में दिखाई देता है वह सभी प्राणियों को सभी प्रकार के भोग उपलब्ध कराने वाला है। वह सूक्ष्म भी है और विराट भी। वह नित्य है और सनातन है। वह प्रकृति तथा पुरुष के रूप में अनेक भेदों वाला है। वह संसार के समस्त प्राणियों को जन्म जरा और मृत्यु से मुक्त कराता है। विष्णु पुराणकार पारलौकिक जीवन के आश्रयकूत उस परमात्मा को प्रणाम करते हैं।

(च) पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री तथा गुरु-शिष्य धर्म :-

विष्णु पुराण में परिवार से सम्बन्धित जो भी परिवारीजन हैं उनके विषय में और उनके कर्तव्यों के विषय में किसी न किसी रूप में संकेत किया गया है। पति-पत्नी के सम्बन्धों का जो पारिवारिक स्वरूप है उसमें यह देखा जा सकता है कि वसुदेव और देवकी एक ऐसे दम्पत्ति हैं जो परस्पर की भावनाओं को ध्यान में रखते हैं और एक-दूसरे के प्रति कर्तव्य रूप धर्म से बंधे हुए दिखाई देते हैं। कंस को जब यह ज्ञात होता है कि उसकी बहिन देवकी के गर्भ से उत्पन्न होने वाला आठवाँ बालक उसी के वध का हेतु बनेगा तो वह तलवार लेकर देवकी को मारने के लिए उद्यत होता है। वसुदेव इस अवस्था में अपने पति धर्म का पालन करते हैं और कंस से प्रार्थना करते हैं कि वह देवकी का वध न करे। वे कंस से कहते हैं कि जिस बालक से उसके जीवन को भय है उस बालक को वह स्वयं ही कंस के सामने प्रस्तुत कर देगा। इस स्थिति में उसका कहना है कि यह मेरी अर्द्धागिंनी है, मैं आपकी रक्षा के निमित्त इसके बालक को आपको देने में किसी प्रकार संकोच नहीं करुंगा। इस रूप में हम वसुदेव के पति के उस रूप को देख पाते हैं जिसमें वह पत्नी के प्राणों की रक्षा के लिए कंस से प्रार्थना करता है क्योंकि हर स्थिति में पत्नी की रक्षा करना और उसका पालन-पोषण करना पति का कर्तव्य है। वसुदेव कंस से देवकी की रक्षा करके अपने इसी पति रूप धर्म का पालन करते हैं।[1]

१. वि. पु. ४/१/६-१०

किसी भी स्त्री के लिए पुत्रों से बढ़कर और दूसरा कोई भी प्रिय नहीं होता। पुत्र ही उसके लिए परम प्रिय होते हैं। इसलिए अपने पुत्र कंस को देना देवकी के लिए कष्टप्रद हो सकता था किन्तु जब वसुदेव ने देवकी के पुत्रों को कंस को देने का वचन दे दिया और उस वचन का पालन करते हुए समय आने पर वसुदेव ने देवकी के पुत्रों को कंस को दिया तो उस स्थिति में देवकी ने किसी प्रकार की असहमति नहीं दिखाई। उसने अपनी सहमति सहित अपने बालकों को अपने पति को दिया जो एक प्रकार से अपने पति की आज्ञा का अनुगमन था क्योंकि पत्नी के लिए परम धर्म ही होता है कि वह हर एक अवस्था में पति की आज्ञा का अनुगमन करे। देवकी ने ऐसा ही किया और वे देवकी के आठवें गर्भ के रूप में उत्पन्न भगवान् श्रीकृष्ण को लेकर कंस के सामने गये।[1]

भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्र को यद्यपि अति मानवीय चरित्र कहा जा सकता है किन्तु उनके चरित्र व्यवहार को मानवीय रूप से भी देखा जा सकता है। कृष्ण और गोपिकाओं का सम्बन्ध यद्यपि भगवान् और भक्त का सम्बन्ध है तथापि इसलिए वे गोपिकाओं को हर तरह से प्रसन्न करते है। इसके अतिरिक्त भी जो कृष्ण के आकर्षण में आबद्ध हैं उस रुकमणि के प्रति भी अपने पति रूप का यथोचित व्यवहार करते हैं। रुकमणि के द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति अपने प्रेम का प्रदर्शन किए जाने पर और सत्य निष्ठा को प्रकट किए जाने पर श्रीकृष्ण रुकमणि के परिवारी जनों से युद्ध करते हैं और रुकमणि के साथ विवाह करते हैं। इस विवाह के पश्चात् वे पति रूप में रुकमणि के मान और मर्यादा की रक्षा करते हैं।

१. इव्युक्त्वा भगवान् तुष्णीं वभूव मुनिसत्तम्।
वसुदेवोऽपि तं रात्रावादाय प्रययो वहिः।। वि.पु. ५/३/१५

इस पुराण में पुत्रों के आदर्श-व्यवहार का संकेत भी यत्र-तत्र दिखाई देता है जैसे कि तीन पुत्रों का उल्लेख यहाँ पर आदर्श पुत्रों के रूप में किया जा सकता है, इनमें से एक है, ध्रुव, दूसरे प्रहलाद और तीसरे पुरुरवा। ध्रुव अपने पिता की गोद में बैठने से वाचित किए गए उसकी विमाता ने उसका अपमान किया किन्तु ध्रुव ने अपने मन में न तो माता के प्रति किसी प्रकार का दुर्भाव प्रदर्शित किया और न ही ध्रुव के मन में अपने पिता के प्रति किसी प्रकार का क्लेश हुआ। उसने यह विचार किया कि वह राज्य उनके भाग्य का है मेरे भाग्य में जो लिखा है मैं उसे प्राप्त करुँगा। इस रूप में पुत्र के रूप में ध्रुव का व्यवहार एक श्रेष्ठ व्यवहार है और वह अपने व्यवहार से पिता का अपमान नहीं करता है और यह विचार करता है कि जो उसके भाग्य में है वही उसे प्राप्त हो। वह सोचता है कि सुरुचि ने जिस बालक को जन्म दिया है वह मेरा भाई है इसलिए जो पिता का राज्य है वह उसे प्राप्त हो।[१]

प्रहलाद का व्यवहार और उसका आचरण भी इसी प्रकार का है। प्रहलाद का पिता हिरण्यकशिपु प्रहलाद के उस स्वभाव पर प्रसन्न नहीं है जिससे वह अपने पिता के अतिरिक्त अन्य ईश्वर स्वीकार करता है और उस ईश्वर की आराधना करता है। पिता के भली प्रकार से समझाए जाने पर भी प्रहलाद मानता नहीं है और विष्णु की आराधना में लीन रहता है। फलस्वरूप पिता अपने पुत्र प्रहलाद को

१. उत्तमः समं भ्राता यो गर्भेण धृतस्तयः।
स राजा समाप्तुं पित्रा दत्तं तथास्तु तत्।। वि.पु. १/१३/२८

समाप्त करने का मन बनाता है और उसके लिए वह अनेक प्रकार के उपाय करता है। कभी वह प्रहलाद को हाथी के पैर के नीचे कुचलकर मरवा देना चाहता है तो कभी वह उसे पहाड़ से नीचे फिकवाकर समाप्त कर देना चाहता है। उसके मारने के लिए वह कभी उसे जल में डुबाने की आज्ञा देता है और कभी विष देकर मार डालने का आदेश देता है। इन सभी उपायों के द्वारा भी जब प्रहलाद मरता नहीं है तो हिरण्यकशिपु स्वयं उसे मारने का उपक्रम करता है। उस स्थिति में नृसिंह रूप धारी भगवान् विष्णु अवतरित होते हैं और वे उसकी रक्षा करके हिरण्यकशिपु का वध करते हैं। नृसिंह भगवान् प्रसन्न होकर प्रहलाद से कहते हैं कि हे प्रहलाद! तुम अपना इच्छित वर मुझसे माँग लो। इसके उत्तर में प्रहलाद कहता है कि आप कृपा करके मुझे यह वर दें कि मेरे मारने के लिए मेरे पिता ने जो-जो पाप किए हैं वे सभी उन पापों से छूट जायें। मुझे मारने के लिए उनके मन में जो द्वेष था और उस द्वेष के कारण उन्हें जो पाप लगा जिससे उनका चित्त दूषित हुआ उस दूषण से भी उन्हें मुक्ति मिल जाये।[१]

इस रूप में हम प्रहलाद का जो स्वरूप देखते हैं वह एक ऐसे पुत्र का स्वरूप है जिसमें पुत्र अपने पिता द्वारा किए गए अकृत को स्मरण नहीं करता और ऐसा व्यवहार करता है जो पुत्र के लिए आदर्श व्यवहार हो सकता है।

---

१. मैद्वेषानुबन्धोऽभूत्..........।
मतपितुषतत्कृतमपापं देवतस्य प्रणस्यतु।।
\- - - - - - - -
अन्यायि चाप्यसाधनानि यानि पित्रा कृतानि मे।
त्वत् प्रसादात् प्रभो द्वेषादधं मुच्यते मे पिता।।
वि.पु. १/२०/२१-२४

एक अन्य राजवंश के वर्णन में दशरथ पुत्र श्रीराम के आदर्श-व्यवहार का भी उल्लेख किया गया है। श्रीराम अपनी परम्परा में ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण राज्य के उत्तराधिकारी थे, किन्तु उनकी विमाता ने उनके उस अधिकार को ध्यान में न रखकर दशरथ के राज्य को अपने पुत्र भरत के लिए मांग लिया। श्रीराम ने न इसका किसी प्रकार से विरोध किया और न ही इससे व्यथित हुए कि पिता की आज्ञा से उन्हें अपने राज्य का त्याग करना पड़ेगा। वे पिता के वचनों को स्वीकार करके राज्य को तुच्छ मानकर अपने अनुज लक्ष्मण और सीता के साथ वन चले गए।[१]

एक कथानक और इस प्रकार का प्राप्त है जिसमें यह वर्णन आया है कि एक पुत्र ने अपने पिता की इच्छा की पूर्ति के लिए अपनी युवावस्था भी पिता को दे दी थी। कथानक इस प्रकार का है कि एक बार शुक्राचार्य ययाति पर असन्तुष्ट हुए और उन्हें वृद्ध होने का श्राप दे दिया। बाद में प्रसन्न होने पर यह कहा कि कोई यदि तुम्हें अपनी युवावस्था दे देगा तो तुम युवक बन जाओगे। ययाति के मन में अभी तक भोग की कामना थी इसलिए उसने अपने सभी पुत्रों से क्रमशः उनकी युवावस्था मांगी। राजा ययाति के अन्य सभी पुत्रों ने मना कर दिया जबकि उनके सबसे छोटे पुत्र पुरु ने अपनी पिता की इच्छा पूर्ति के लिए अपनी युवावस्था पिता को दे दी। पिता प्रसन्न हुए और जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि संसार की समस्त वस्तुयें यदि एक साथ किसी एक व्यक्ति को मिल

१. पितृवचनाचागणितराज्याभिलाषी। भ्रात भार्यासमेतो वनं प्रविवंश।।
वि. पु. ४/४/६५

जायें तब भी वह प्रसन्न नहीं हो सकता तों उन्होंने विरक्ति का अनुभव करते हुए अपने राज्य का राज्याधिकार पुत्र को दे दिया और स्वयं वन को चले गए।

इस रूप में ये सभी संकेत ऐसे पुत्रों के हैं जो अपनी परम्परा का और मर्यादा का पालन करते हैं तथा इस प्रकार के आचरण और व्यवहार का प्रदर्शन करते हैं जिसे उन्हें उनके धर्म के रूप में जाना जा सकता है। पुत्रों के लिए ही नहीं धर्म रूप में सभी के लिए ऐसा व्यवहार श्रेष्ठ व्यवहार है।

विष्णु पुराण के कथानकों में गुरु धर्म का संकेत भी प्राप्त है। अनेक कथानकों में ऐसा दिखाई देता है जिसमें कहीं पर कोई आचार्य अपने शिष्य के कल्याण की कामना करता है और उसे इस रूप में उपदेशित करता है जिसमें न केवल उस का अपितु राजा के श्रेष्ठ व्यवहार से सम्पूर्ण प्रजा का कल्याण हो। उदाहरण के लिए एक ऋषि रिभु का आख्यान मिलता है। इस आख्यान में यह कहा गया है कि रिभु के शिष्य निदाघ एक बहुत बड़े राज्य के राज्याधिकारी थे। वे प्रसन्नता पूर्वक अपने राज्य की प्रजा का पालन कर रहे थे। गुरु रिभु ने बहुत दिनों से उनके राज्य को नहीं देखा था इसलिए एक बार उनके मन में यह कामना हुई कि वे निदाघ के राज्य को देखें और यह भी देखें कि उनका शिष्य ठीक मार्ग पर चलता हुआ प्रजा का पालन उचित रीति से कर रहा है अथवा नहीं कर रहा है। यह विचार कर वे निदाघ के राज्य में गए और उन्होंने देखा कि निदाघ अतिथि सेवा में खड़ा है और वह

प्रजा का पालन भली प्रकार कर रहा है। आचार्य प्रसन्न हुए और उन्होंने राजा को परम ज्ञान स्वरूप अद्वैत-दर्शन का उपदेश दिया। उस अद्वैत के माध्यम से उन्होंने शौवीर नरेश निदाघ को यह संकेत करने का प्रयत्न किया कि प्रजा में राजा को कभी द्वैत बुद्धि नहीं रखना चाहिए और सम्पूर्ण प्रजा का पालन एक ही भाव से करना चाहिए। यह आचार्य का धर्म है इसलिए आचार्य रिभु ने अपने धर्म का पालन करते हुए शौवीर नरेश को उपदेशित किया।[१]

इसके विपरीत कुछ ऐसे आचार्यों का संकेत भी विष्णु पुराण में प्राप्त है जिसमें आचार्यों ने अपने धर्म का पालन ठीक से नहीं किया। हिरण्यकशिपु और प्रहलाद के चरित्र में हमको यही देखने को मिलता है। हिरण्यकशिपु ने प्रहलाद को विपरीत शिक्षा देने के लिए आचार्यों को कहा और आचार्यों ने बिना विचार किए राजा के भय से ऐसा करना स्वीकार कर लिया। वे लोभ के वशीभूत होकर अथवा भय के वशीभूत होकर प्रहलाद को विपरीत शिक्षा देते रहे और जब प्रहलाद ने उनकी शिक्षा स्वीकार नहीं की तो उन्होंने राजा के समक्ष प्रहलाद को मारने तक का प्रस्ताव किया। राजगुरुओं ने हिरण्यकशिपु से कहा कि महाराज यदि यह बालक आपकी इच्छा के अनुरूप आचरण नहीं करेगा तो हम इस प्रकार के मन्त्रों का प्रयोग करेंगे जिससे इसकी मृत्यु निश्चित होगी। यह आचार्यों का विपरीत आचरण है और ऐसा आचरण करके गुरु अपने आचार्य धर्म से च्युत हो जाते हैं।

१: वि. पु. (१), पृ. ३५२-३६०

(छ) धर्म एवं आचार :-

इस देश की परम्परा में प्रारम्भ से ही यह कहा जाता है कि मूल रूप से मनुष्य और पशु में कोई बहुत अन्तर नहीं है क्योंकि मनुष्य और पशु की प्रवृत्तियाँ लगभग एक जैसी हैं। यह बहुत प्रचलित है और सर्वज्ञात है कि आहार, निद्रा, भय और मैथुन की जैसी प्रवृत्तियाँ पशु में होती हैं ठीक उसी प्रकार की प्रवृत्तियाँ मनुष्य में भी होती हैं। केवल धर्म ही एक ऐसा विशेष लक्षण तत्व है जो मनुष्य को विशेष रूप से व्यक्त करता है और मनुष्यता के रूप में उसकी पहचान कराता है। आचार्य कौटिल्य ने और अन्य आचार्यों ने भी इसलिए धर्म को मनुष्य के व्यवहार के रूप में देखा है, कर्तव्य के रूप में देखा है और सद् प्रवृत्तियों के रूप में भी देखा है। इसके बाद यह कहा है कि एक ओर धर्म, धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह आदि सद्गुणों का समन्वय है तो दूसरी ओर वर्णों तथा आश्रमों के लिए वह कर्तव्य रूप में भी हैं। जहाँ वह धृति, क्षमा, अस्तेय आदि के रूप में मनुष्यों के आन्तरिक गुणों के रूप से व्यक्त होता है वहीं वह मनुष्य के लिए कर्तव्य रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है। अपने-अपने वर्णों में रहकर और आश्रम धर्मों का पालन करते हुए व्यक्ति जो क्रिया-कलाप करता है वही उसके लिए धर्म कहे जाते हैं। इस रूप में धर्म उसके द्वारा किए गए कर्तव्यों का ऐसा समूह है जिनसे व्यक्ति न केवल स्वयं को विशेष रूप में प्रकट करता है अपितु इससे वह मनुष्य द्वारा आचरित किए जाने से आचार के निकट पहुँचता है।

जब हम आचार शब्द का विश्लेषण करते हैं तो इस शब्द का अर्थ चरित्र, नीति, सदाचार और शील से ग्रहण किया जाता है।[1] इसका अभिप्राय यह हुआ कि आचार वह है जिसका आचरण व्यक्ति अपने सद्गुणों के रूप में करता है और व्यवहार के रूप में करता है। आचार्य मनु ने भी सदाचार के सम्बन्ध में अपना मत दिया है और यह लिखा है कि वेदों तथा स्मृतियों में जो धर्ममूलक कर्म हैं वे ही सदाचार के रूप में प्रतिपादित हैं।[2] इसका अभिप्राय यह हुआ' कि व्यक्ति जो सत् व्यवहार करता है वही उसका सदाचार है।

विष्णु पुराण में भगवान् के भक्त का लक्षण देते हुए यह कहा गया है कि जो व्यक्ति स्वच्छ चित्त वाला होता है, जिसका मन मात्सर्य रहित होता है, जो प्रशान्त होता है, पुनीत चरित्र वाला होता है, सभी प्राणियों के हित की बात करने वाला होता है और अभिमान न करने वाला होता है भगवान् वासुदेव उसी के हृदय में निवास करते हैं।[3] इस रूप में यदि हम विचार करें तो यह दृष्टिगत होता है कि भगवान् के भक्त में वे सभी सद्गुण विद्यमान होते हैं जिनसे व्यक्ति धार्मिक कहा जाता है अथवा जो धर्म के अंग हैं एक ओर भगवान् के भक्त में निश्छलता होती है और अभिमान शून्यता होती है दूसरी ओर उसमें इस तरह का आचार-व्यवहार होता है कि वह किसी के प्रति द्वेष नहीं रखता और न किसी का अहित चिन्तन करता है। वह सदा ही सभी के प्रति दयालु होता है और यह इच्छा करता है कि सभी का हित होवें, किसी को भी उसके जीवन में कष्ट न प्राप्त होवे।

१. सं. श. कौ., पृ. ६११
२. म. स्मृ. ४/१५५
३. वि. पु., पृ. ३६७

इस पुराण में आचार के रूप में अन्य जिन गुणों का संकेत किया गया है उनमें यह कहा गया है कि व्यक्ति प्रतिदिन सदाचार का पालन करे क्योंकि सत् का अर्थ साधु है और आचार का अर्थ आचरण है। इस रूप में साधु अर्थात् सुन्दर आचरण जो करता है वह सदाचारी होता है और उसके द्वारा किए गए आचरण को ही सदाचार कहा जाता है।[1]

व्यक्ति जो आचरण करे वह धर्म के विरुद्ध न हो और अर्थ तथा काम के विरुद्ध भी न हो। इसी के साथ-साथ उसका आचरण समाज के विरुद्ध भी न हो। वह अपने अर्जन से पारिवारिक जनों का पालन-पोषण करता हुआ अतिथि सेवा में संलग्न रहे। अपने गुरुजनों और श्रेष्ठ जनों के प्रति आदरवान् हो। प्रातः सूर्योदय से पूर्व उठकर स्नानादि करके सन्ध्या वन्दन का व्यवहार करे उसके जो भी कर्म हो वो सभी के सभी ऐसे हैं जिनमें उसे मिथ्या भाषण न करना पड़े, किसी दूसरे के धन का हरण न करना पड़े और कभी-भी परदोषों का कथन न करना पड़े।[2]

इस रूप में हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि धर्म और आचार भिन्न रूप में दिखाई देते हैं तथापि व्यवहारिक रूप से इनमें कोई बहुत बड़ी भिन्नता इसलिए प्रतीत नहीं होती क्योंकि धर्म मनुष्य के सद्गुण हैं और आचार उनका व्यवहार रूप है। व्यक्ति अपनी आन्तरिक श्रेष्ठ वृत्तियों से जब श्रेष्ठता का विचार करता है और उसे व्यवहार जगत् में प्रस्तुत करता है तब जो श्रेष्ठ वृत्तियों के रूप में पहले धर्म था वही व्यवहारिक रूप में आचार हो गया। इसलिए इस स्तर पर धर्म और आचार में बहुत भिन्नता दृष्टिगत नहीं होती।

---

१. तेषामाचरणं यस्तु सदाचारः स उच्यते। वि.पु. ३/११/३
२. वही, पृ. ४३५

(ज) धर्म एवं आचार के सम्बन्धित कारक-अहिंसा, क्षमा आदि :-

पिछले प्रतिपादन में हम यह अवलोकन कर चुके हैं कि प्रकट रूप में धर्म और आचार पृथक् होते हुए भी दोनों एक प्रकार से समान भी हैं। मनुष्य की सद्वृत्तियों के धारण करने के सम्बन्ध में धर्म का आख्यान किया जाता है और उन्हीं के व्यवहारिक रूप को आचार के रूप में जाना जाता है। इस तरह से धर्म और आचार भिन्न-भिन्न होते हुए भी दोनों एक सदृश हैं। इसमें मनुष्य की जो मुख्य सद्वत्तियाँ हैं वे हैं सत्य भाषण की सद्वृत्ति, अहिंसा का व्यवहार करने की सद्वृत्ति और क्षमा करने का स्वभाव। विष्णु पुराण में इन सद्वृत्तियों को स्थान-स्थान पर कहा गया है और वहाँ पर यह भी कहा गया है कि इन्हीं सद्प्रवृत्तियों के धारण करने से मनुष्य धर्मवान् होता है और तब वह सदाचरण का पालन करता हुआ सदाचारी बन पाता है।

एक स्थान पर विष्णु पुराण में यह सन्दर्भ आया है कि व्यक्ति को मानसिक रूप से और व्यवहारिक रूप से भी कभी भी किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिए। ईश्वर उसी से परम प्रसन्न होता है जो किसी भी जीव को कभी भी पीड़ित नहीं करता और न ही कभी किसी की हिंसा करता है। ऐसे व्यक्ति के मन में न किसी के प्रति राग होता है और न किसी के प्रति द्वेष होता है। यदि किसी व्यक्ति के मन में किसी के प्रति राग होगा तो वह पक्षपात करने लगेगा और यदि इसी प्रकार से उसके मन में किसी के प्रति द्वेष होगा तो वह क्रोध के वशीभूत होकर हिंसा करने के लिए उद्यत हो जायेगा। अहिसां परम धर्म है और उस धर्म के पालन से व्यक्ति परम धार्मिक होने का आनन्द अनुभव करता है।[१]

१. वि. पु. (१), पृ. ४०३

क्षमा व्यक्ति के लिए श्रेष्ठ व्यवहार है। यह एक ऐसा व्यवहार है जिसमें कोई भी व्यक्ति अपने प्रति किए गए दुर्व्यवहार का उत्तर भी क्रोध पूर्वक नहीं देता और न ही किसी प्रकार की हिंसा में प्रवृत्त होता है। विष्णु पुराण में एक कथानक इस प्रकार का है जिसमें एक राजा के द्वारा जिसका नाम सौदास था वशिष्ठ जी के प्रति दुर्व्यवहार हो जाता है। वशिष्ठ जी उसे श्राप देना चाहते हैं जिसके प्रयुत्तर में राजा सौदास भी वशिष्ठ जी को श्राप देने के लिए उद्यत होता है। इस पर राजा की पत्नी अपने मन में क्षमा का भाव लाते हुए राजा से यह कहती है कि महाराज! ये हमारे गुरु हैं इसलिए आप इन्हें श्राप न दें और इन्हें क्षमा कर दें।[1]

इसी तरह का सन्दर्भ हम श्री भगवान् के उस व्यवहार में देख सकते हैं जहाँ पर वे यमुना में निवास करने वाले कालिया नाग का मान-मर्दन करते हैं। कालिया नाग के विष से सम्पूर्ण व्रज प्रदूषित हो रहा है उसके झाग से न केवल यमुना का जल प्रदूषित था अपितु वहाँ के पशु-पक्षी भी उस विष के तीव्र प्रभाव से मृत्यु को प्राप्त हो रहे थे। जब श्रीकृष्ण उसे मारने के लिए उद्यत हुए तब नाग पत्नियों ने भगवान् की प्रार्थना करते हुए उनसे कहा कि भगवन् आप कृपालु हैं कृपाकर आप इसे क्षमा करें।[2] श्रीकृष्ण ने नागपत्नियों की इस वाणी को सुनकर नाग को क्षमा किया और उससे कहा कि आज के पश्चात् तुम यमुना में निवास नहीं करोगे जिससे यहाँ के पशु-पक्षी विष से प्रभावित न हों। इस उदाहरण में श्रीकृष्ण की क्षमा वृत्ति का स्वरूप प्रकट होता है।

---

१. वि.पु. (२), पृ. २०-२१
२. वही, पृ. १६८-१७२

इस पुराण में अन्य ऐसे उदाहरण हैं जहाँ पर धर्म और आचार के अन्य विविध कारकों को कहा गया है और इस माध्यम से यह अपेक्षा की गई हैं कि सभी व्यक्ति जो भी पुराणों का अध्ययन करते हैं अथवा इनका श्रवण करते हैं वे धर्म धारण करें, वे आचार का पालन करें।

(झ) निष्कर्ष:-

इस रूप में विष्णु पुराण का सभी प्रकार से पर्यालोचन करने के पश्चात् जो स्थिति बनती है उसके अनुसार यह कहा जा सकता है कि पुराणों की परम्परा में विष्णु पुराण एक ऐसा पुराण है जो ज्ञान और विज्ञान का भण्डार है। इस पुराण में ऐसी कोई भी विषय-वस्तु नहीं है जिसका समावेश इस पुराण में न किया गया हो। सामाजिक सन्दर्भ में और राजनैतिक परिस्थितियों का उल्लेख जिस स्पष्टतः के साथ किया गया है और उसमें जैसा समाधान दिया गया है, वह अपने आप में अनूठा है। मनुष्य का नैतिक बल किस प्रकार बढ़े और वह अपने श्रेष्ठ आचरण से किस प्रकार स्वयं आदर्श पुरुष बन सके तथा किस प्रकार से आदर्श समाज के निर्माण में सहयोगी बने इसका दिशा निर्देश इस पुराण में किया गया है। राजाओं, देवों और दानवों के उपाख्यान देकर यह संकेत करने का प्रयत्न किया गया है कि जो भी सत् मार्ग पर चलता है और अपने जीवन में नीति के पथ का परित्याग नहीं करता वह कभी-भी पराजित नहीं होता। इसी मार्ग पर चलकर सभी सुखी और सम्पन्न होवें यह इस पुराण का लक्ष्य है।
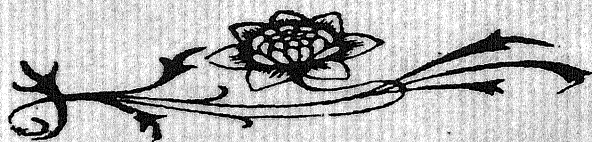
उद्धृत ग्रन्थ-सूची

१. अ. शा. — अभिज्ञान शाकुन्तलम्
डॉ. वासुदेव कृष्ण महालक्ष्मी प्रकाशन, आगरा-२००२

२. अथर्व (२) — अथर्ववेद (खण्ड-२)
संस्कृति संस्थान, बरेली

३. अ.वे. — अथर्ववेद
संस्कृति संस्थान, बरेली

४. अ. शा. — अभिज्ञान शाकुन्तलम्
डॉ. हरिदत्त शर्मा, शिवबालक द्विवेदी ग्रन्थम्- १९८३

५. अ. रा. — अथर्ववेदे राजनीति
सं. सं. वि. वि. १९८९

६. आ. गृ. सू. — आश्वलायन गृह्यसूत्र
ईस्टर्न बुक लिंकर्स-१९५६

७. आ. सू. — आश्वलायनधर्मसूत्र

८. ईशो. — ईशावास्योपनिषद्
विद्यानन्दगिरि ऋषिकेश-१९७६

९. उ. सं. — उपनिषद्कालीन समाज एवं संस्कृति
डॉ. राजेन्द्र कुमार त्रिवेदी परिमल, पब्लिकेशन्स-१९७७

१०. उ. स्मृ. — उशना स्मृति, कैलाश विद्या प्रकाशन

११. ऋक् — ऋग्वेद — सायणभाष्य सहित

१२. ए. हि.सं.लि. — ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर लन्दन-१९२५

१३. ए. मै. इ. — ए मैनुअल ऑफ इण्डिया
डॉ. जे. एन. सिन्हा

१४. क. कठोपनिषद् (प्रथम अध्याय)
डॉ. शिवबालक द्विवेदी ग्रन्थम्-कानपुर

१५. का. क. कादम्बरी कथामुखम्
डॉ. राजेन्द्र मिश्रा, अक्षय प्रकाशन

१६. कि. किरातार्जुनीयम् (प्रथम सर्ग)
डॉ. बाबूराम त्रिपाठी महालक्ष्मी प्रकाशन, आगरा

१७. कू. पु. कूर्म पुराणाड· वर्ष ७७, अंक-१ गीताप्रेस

१८. के. उ. केनोपनिषद् गीताप्रेस, गोरखपुर

१९. कौ. अ. कौटिल्य अर्थशास्त्र
चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१९६२

२०. गो. ब्रा. गोपथ ब्राह्मण गास्ट्रा सम्पादित

२१. छा. छान्दोग्योपनिषद् गीताप्रेस, गोरखपुर

२२. ज. रा. ए. सो. जनरल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी-१९४१

२३. जै. सू. जैमनीय सूत्र

२४. निरुक्त निरुक्त वाराणसी

२५. प. पु. पद्म पुराण अशोक चटर्जी

२६. पु. वि. पुराण विमर्श
पं. बल्देवोपाध्याय चौखम्बा-१९६७

२७. पु. स. पुराण समीक्षा डॉ. हरिनारायण दुबे
इण्टरनेशनल इन्स्ट्यीट्यूट, इलाहाबाद

२८. पु. प. (१) पुराण पत्रिका
सर्वभारतीय काशी न्यास दुर्ग, वाराणसी

९. ब्र. वै. ब्रह्म वैवर्तपुराण डॉ. वैकुण्ठशर्मा, जयपुर

०. ब्र. पु. ब्रह्माण्ड पुराण खेमराज श्रीकृष्णदास मुम्बई-१९०६

१. बृह. बृहदारण्यकोपनिषद् शांकरभाष्य गीताप्रेस,गोरखपुर

२. बौ. ध. सू. बौधायन धर्मसूत्र वाराणसी-१९३४

३३. भ. गी. भगवद् गीता गीता प्रेस, गोरखपुर

३४. भा.म.पु. भागवत महापुराण गीता प्रेस, गोरखपुर

३५. भा. नी. भारतीय नीतिशास्त्र डॉ. दिवाकर बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी-१९८२

३६. भा.नी.इ. भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास डॉ. भीखालाल हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ.प्र.-१९८४

३७. म.पु. मत्स्य पुराण (कल्याणांक) गीताप्रेस

३८. म. भा. महाभारत (हि.टी.) गीता प्रेस, गोरखपुर

३९. म.भा.आ. महाभारत में शान्ति पर्व का आलोचनात्मक अध्ययन ईस्टर्न बुक लिंकर्स-१९८४

४०. म. स्मृ. मनु स्मृति हिन्दी पुस्तकालय, मथुरा

४१. मु. उ. मुण्डकोपनिषद् गीता प्रेस, गोरखपुर

४२. मै. ए. मैनुअल ऑफ इण्डिया एथिक्स प्रो. मेकेन्जी

४३. यजु. यजुर्वेद संस्कृति संस्थान, बरेली

४४.	या. स्मृ.	याज्ञवल्क्य स्मृति	मिताक्षरा सहित
४५.	व्या. स्मृ.	व्याससमृति	ए.ए. फ्युहर
४६.	वा. रा.	वाल्मीकि रामायण (बालकाण्ड)	महर्षि बाल्मीकि
४७.	वि.पु. (१)	विष्णु पुराण (प्रथम खण्ड)	संस्कृति संस्थान, बरेली
४८.	वि. पु.	विष्णुधर्मोत्तर पुराण	
४९.	वि. पु. (२)	विष्णु पुराण (द्वितीय खण्ड)	संस्कृति संस्थान, बरेली
५०.	वे. भा. सं.	वेदों में भारतीय संस्कृति	आद्यादत्त ठाकुर
५१.	शु. नी.	शुक्रनीति	कलकत्ता-१९९०
५२.	श. ब्रा.	शतपथ ब्राह्मण	काशी वि. सं.-१९९४
५३.	श्वे. उ.	श्वेताश्वतरोपनिषद्	गीताप्रेस
५४.	सं. श. कौ.	संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुम	रामनारायणलाल बेनीप्रसाद इलाहाबाद
५५.	हरि. पु. सां. अ.	हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन	
५६.	हि. स.	हिन्दी सभ्यता	डॉ. राधा कुमुद मुखर्जी
५७.	हि.	हितोपदेश (मित्रलाभ)	डॉ. बाबूराम त्रिपाठी महालक्ष्मीप्रकाशन, आगरा
५८.	हि. इ. लि.	हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटलेचर	
५९.	हि. वि.	हिन्दी विश्वकोष (प्रथम खण्ड)	राजकमल प्रकाशन